# तत्व-ज्ञान

हिन्दी परामर्श समिति ग्रन्थमाला–२

# तत्व-ज्ञान

लेखक

डा० दीवानचन्द

**प्रकाशन ब्यूरो**

उत्तर प्रदेश सरकार, लखनऊ

प्रथम संस्करण
१९५६

मूल्य
चार रुपये

मुद्रक
सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग

# प्रकाशकीय

भारत की राजभाषा के रूप में हिन्दी की प्रतिष्ठा के पश्चात् यद्यपि इस देश के प्रत्येक जन पर उसकी समृद्धि का दायित्व है, किन्तु इससे हि दी भाषा-भाषी क्षेत्रों के विशेष उत्तरदायित्व में किसी प्रकार की कमी नहीं आती। हमें संविधान में निर्धारित अवधि के भीतर हिन्दी को न केवल सभी राज-कार्यों में व्यवहृत करना है, उसे उच्चतम शिक्षा के माध्यम के लिए भी परिपुष्ट बनाना है। इसके लिए अपेक्षा है कि हिन्दी में वाङमय के सभी अवयवों पर प्रमाणित ग्रन्थ हों और यदि कोई व्यक्ति केवल हिन्दी के माध्यम से ज्ञानार्जन करना चाहे तो उसका मार्ग अवरुद्ध न रह जाय।

इसी भावना से प्रेरित होकर उत्तर प्रदेश शासन ने अपने शिक्षा विभाग के अन्तर्गत साहित्य को प्रोत्साहन देने और हिन्दी के ग्रन्थों के प्रणयन की एक योजना परिचालित की है। शिक्षा विभाग की अवधानता में एक हिन्दी परामर्श समिति की स्थापना की गयी है। यह समिति विगत वर्षों में हिन्दी के ग्रन्थों को पुरस्कृत करके साहित्यकारों का उत्साह बढ़ाती रही है और अब इसने पुस्तक प्रणयन का कार्य आरम्भ किया है।

समिति ने वाङमय के सभी अंगों के सम्बन्ध में पुस्तकों का लेखन और प्रकाशन कार्य अपने हाथ में लिया है। इसके लिए एक पंच-वर्षीय योजना बनायी गयी है जिसके अनुसार ५ वर्षों में ३०० पुस्तकों का प्रकाशन होगा। इस योजना के अन्तर्गत प्रायः वे सब विषय ले लिये गये हैं जिस पर संसार के किसी भी उन्नतिशील साहित्य में ग्रन्थ प्राप्त हैं। इस बात का प्रयत्न किया जा रहा है कि इनमें से प्राथमिकता उसी विषय अथवा उन विषयों को दी जाय जिनकी हिन्दी में नितान्त कमी है।

प्रदेशीय सरकार द्वारा प्रकाशन का कार्य आरम्भ करने का यह आशय नहा है कि व्यवसाय के रूप में यह कार्य हाथ में लिया गया है। हम केवल ऐसे ही ग्रन्थ प्रकाशित करना चाहते हैं जिनका प्रकाशन कतिपय कारणों से अन्य स्थानों से नहीं हो पाता। हमारा विश्वास है कि इस प्रयास को सभी क्षेत्रों से सहायता प्राप्त होगी और भारती के भण्डार को परिपूर्ण करने में उत्तर प्रदेश का शासन भी किंचित योगदान देने में समर्थ होगा।

**भगवती शरण सिंह**
सचिव
हिन्दी परामर्श समिति

# प्रस्तावना

एक लेखक ने तत्व-ज्ञान की ऐसी महारानी से उपमा दी है, जिसे राज-सिंहासन से उतार दिया गया है। इस कथन को समझने के लिए हम स्थिति को सिद्धान्त और व्यवहार के दृष्टिकोणों से देख सकते हैं। सिद्धान्त के सम्बन्ध में एक समय था जब हर प्रकार के उच्च विचार दार्शनिक विचार ही समझे जाते थे। गणित, ज्योतिष, और विज्ञान स्वतन्त्र विद्याएं न थीं। स्थिति बदली, और महारानी की सन्तान ने बगावत कर दी। उन्होंने अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा की, और तत्व-ज्ञान के बहुत बड़े इलाके पर अपना अधिकार कर लिया। अब तो आत्म-विद्या अपने आपको मनोविज्ञान कहती है, और नीति-विवेचन अपने आपको विज्ञान की एक शाखा समझना चाहता है। व्यावहारिक दृष्टिकोण से देखें, तो ऐसा प्रतीत होता है कि मानव-जाति ने एक नये मार्ग पर चलना आरम्भ कर दिया है। टामस कार्लाइल ने कहा था कि नवीन संस्कृति दो वस्तुओं में निहित है—सस्ती कपास और तेज चलने वाली रेल गाड़ियां। कार्लाइल के पीछे स्थिति और बदल गयी है। अब तेज रेल गाड़ियों की तेजी तेजी नहीं रही। अब बनाने की अपेक्षा तोड़ना अधिक प्रिय हो रहा है। संसार में हर ओर शक्ति और इसके प्रमुख साधन धन के पीछे सभी दौड़ रहे हैं। तत्व-ज्ञान ने इन दोनों को कभी प्रमुख स्थान नहीं दिया। भारत में जिन विचारकों ने भारत को गौरवशाली बना दिया, वे दुनियावी शक्ति और धन के उपासक न थे। नवीन काल में भी दयानन्द, रामकृष्ण और गांधी लंगोटबन्द थे। उनकी सारी सम्पत्ति उनके मस्तिष्क और हृदय में बन्द थी। वर्तमान रहन-सहन और जीवन-आदर्शों ने लोगों को तत्व-ज्ञान से विमुख कर दिया है।

तत्व-ज्ञान ऐसी महारानी है जिसे राज-सिंहासन से उतार दिया गया है, परन्तु उसने इस स्थिति को स्वीकार नहीं किया। और आश्चर्य न होगा, यदि उसे फिर अपना पुराना स्थान मिल जाय। विज्ञान फिर तत्व-ज्ञान की ओर झुक रहा है; और यह कहना कठिन हो जाता है, कि जब वैज्ञानिक अपने गूढ़ विचारों का वर्णन करते

हैं, तो वे विज्ञान कह रहे हैं, या तत्व-ज्ञान। व्यावहारिक दृष्टि से भी दुनिया को जितनी तत्व-ज्ञान की अब आवश्यकता है, उतनी पहले कभी न थी।

जिन लोगों को तत्व-ज्ञान के अध्ययन में दिलचस्पी है, उनके लिए तो तत्व-ज्ञान ऐसी तुष्टि का स्रोत है, जिसकी उपमा मिल नहीं सकती। सेण्टायना के शब्दों में, तत्व-ज्ञान साधारण जीवन की स्थिति को उन्नत करने का साधन ही नहीं, यह अपने आप में साधारण जीवन से अधिक तीव्र अनुभव भी है, जैसे एकान्त में सुना हुआ शब्द और सूक्ष्म राग तूफानों की चीखों और नगरों के शोर शराबे से अधिक तीव्र होता है।

६३ छावनी, कानपुर
२० फरवरी '५६

**दीवानचन्द**

# सूची

## प्रथम भाग



## द्वितीय भाग



## तृतीय भाग

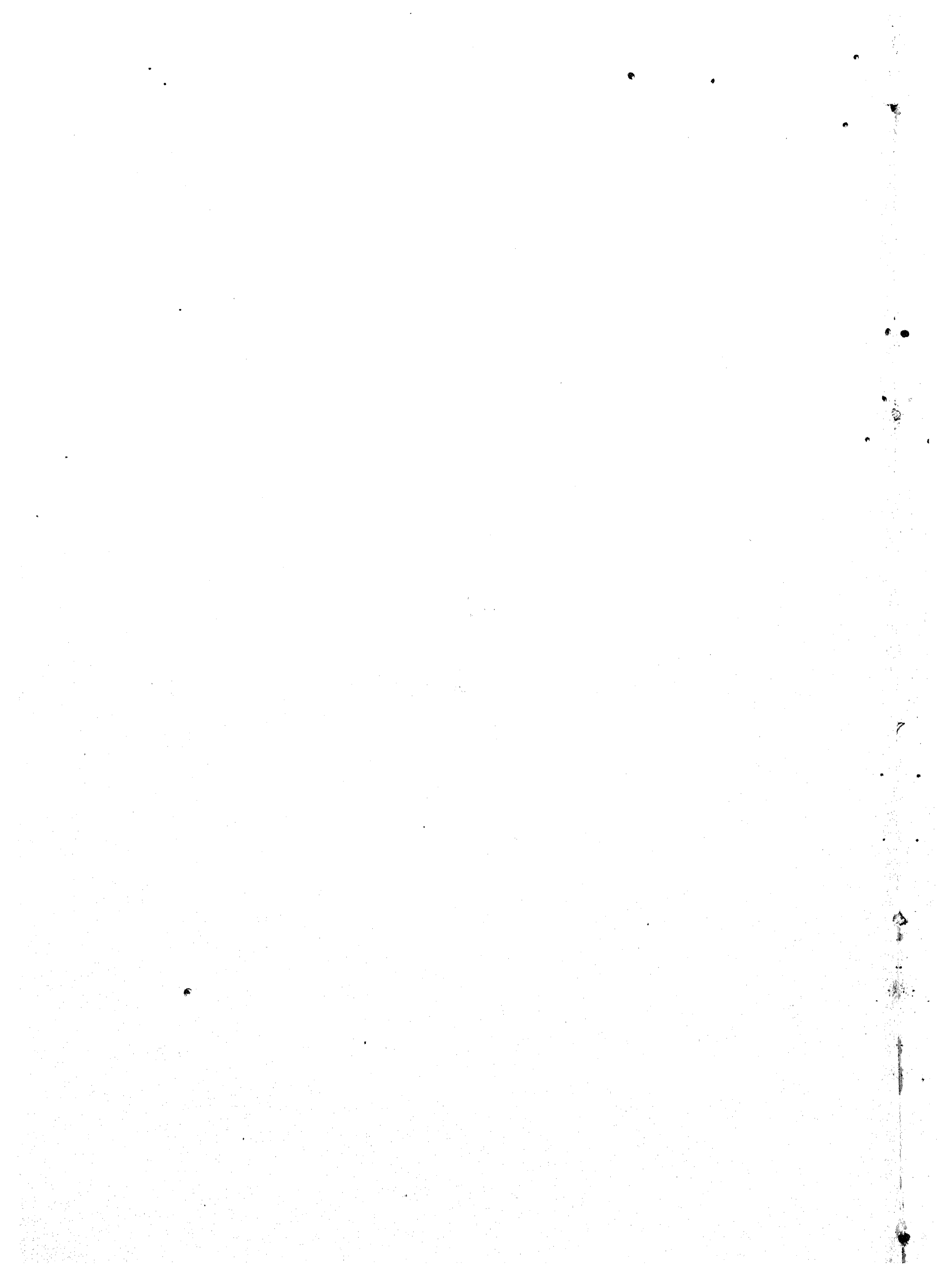


## चतुर्थ भाग

## पञ्चम भाग

## प्रथम भाग

# विषय-प्रवेश



# तत्व-ज्ञान : क्षेत्र, सम्बन्ध और विधि

## १. संस्कृति और उसके अंग

किसी जाति की संस्कृति में चार अंग प्रमुख रूप से देखे जाते हैं :—विज्ञान, कला, तत्व-ज्ञान, और नीति।

नीति में वैयक्तिक व्यवहार और सामाजिक व्यवहार दोनों सम्मिलित होते हैं। सामाजिक व्यवहार को निश्चित करना राजनीति का काम है; यह नीति का एक भाग ही है। संस्कृति में धर्म का स्थान भी महत्व का स्थान है। इसे कहां रखें? इस प्रश्न का उत्तर देना सहज नहीं। यह उपर्युक्त चारों अंशों में से प्रत्येक के साथ ऐसा घुला-मिला होता है कि इसे उनसे अलग करना कठिन हो जाता है। इसका एक कारण है।

मनुष्य की प्रकृति में तीन पक्ष स्पष्ट दिखायी देते हैं : ज्ञान, भाव, और कर्म। ज्ञान में हम इन्द्रियों की देन से आरम्भ करते हैं, परन्तु उसके साथ समाप्त नहीं कर देते। जो सामग्री हमें इन्द्रियों से प्राप्त होती है, हमारा मन उसे विशेष आकृति देता है। मनन का काम बहुत महत्व का है, परन्तु इस मनन का आधार इन्द्रियों की देन ही होता है। कुछ लोग कहते हैं कि स्वतन्त्र मनन भी सम्भव है, और ऐसा मनन ही मनुष्य की विशिष्टता है। परीक्षण और मनन की प्रमुखता के आधार पर विज्ञान और तत्व-ज्ञान में भेद हो जाता है। भाव का काम कुछ काल के लिए, अनुभव करने वाले व्यक्ति और अनुभूत पदार्थ के भेद को मिटा देना है। जब हम किसी सुन्दर चित्र को देखते हैं, कोई मधुर राग सुनते हैं, या किसी कविता का पाठ करते हैं, तो उसमें ऐसे विलीन होते हैं कि अपनी सुध-बुध ही नहीं रहती। कर्म की बाबत हम सोचते हैं कि वह अच्छा है, या बुरा है।

विज्ञान और तत्व-ज्ञान का उद्देश्य सत्य को जानना है; कला का उद्देश्य सौन्दर्य को पैदा करना और उसका रस लेना है; नीति का उद्देश्य आचरण को व्यवस्थित करना है। इन तीनों का सम्बन्ध मानसिक जीवन के एक-एक पहलू से है। धर्म का

सम्बन्ध समस्त जीवन से है। यह किसी पक्ष की ओर से उदासीन नहीं हो सकता। इसका परिणाम यह है कि कोई इसे ज्ञान से संयुक्त करता है; कोई भक्ति में इसके मर्म को देखता है; कोई नीति और धर्म को अभिन्न बताता है। ये दृष्टिकोण संकुचित हैं। वास्तव में धर्म में ज्ञान-योग, भक्ति-योग और कर्म-योग तीनों का समन्वय है।

हम तत्व-ज्ञान का अध्ययन कर रहे हैं। तत्व-ज्ञान का क्षेत्र निश्चित नहीं। पहले यह बहुत विस्तृत था; अब संकुचित हो रहा है। अफलातूं के समय में भौतिक विज्ञान और ज्योतिष विद्या भी इसके अंग समझे जाते थे। अब ऐसा नहीं है। कई शतियों तक तत्व-ज्ञान धर्म का उपकरण बना रहा; अब विज्ञान इस पर प्रभाव डालना चाहता है। दार्शनिक प्रायः यत्न करते रहे हैं कि इसे स्वतन्त्र विषय बनायें।

तत्व-ज्ञान के विषय को समझने के लिए, हम देखेंगे कि यह विज्ञान और धर्म से कहां मिलता है, और कहां भिन्न है।

## २. विज्ञान और तत्व-ज्ञान

प्रत्येक कालेज में, जो विज्ञान की शिक्षा का प्रबन्ध करता है, भौतिक विज्ञान, रसायन-विद्या, प्राण-विद्या, और गणित्त की शिक्षा दी जाती है। इन विभागों में क्या काम होता है?

भौतिक विज्ञान प्रकृति के रूपों और उसकी क्रियाओं का अध्ययन करता है। प्रकृति ठोस, तरल, और गैस—तीन रूपों में व्यक्त होती है। ठोस पदार्थ के अणु एक दूसरे के निकट रहना चाहते हैं। इसके फलस्वरूप, ऐसे पदार्थों के विस्तार और आकार स्थिर से होते हैं। मैं मेज, कुर्सी, पुस्तक की हालत में रोज ऐसा देखता हूं। तरल पदार्थ के अणुओं में इतना स्नेह नहीं होता; वे सीमाओं के अन्दर अपने स्थान को बदल सकते हैं। इसका फल यह होता है कि उनका विस्तार तो स्थिर होता है, परन्तु आकार स्थिर नहीं होता। पानी को जिस पात्र में डालें, उसी के आकार को ग्रहण कर लेता है। गैस के अणु एक दूसरे से जितनी दूर जा सकें, जाना चाहते हैं: इसकी हालत में न विस्तार निश्चित होता है, न आकृति। प्रकृति की क्रिया गति के रूप में होती है। भौतिक विज्ञान सामान्य प्रकृति का अध्ययन करता है; प्रकृति के विविध गुणों की ओर ध्यान नहीं देता। रसायन-विद्या इस भेद की ओर विशेष ध्यान देती है। इसका प्रमुख काम विविध प्रकार की प्रकृति के संयोग-वियोग का अध्ययन करना है। हाइड्रोजन और आक्सिजन विशेष मात्रा में मिलें, तो उनके मेल से जल प्रकट हो जाता है, जिसके गुण उन दोनों के गुणों से भिन्न होते हैं। प्राण-विद्या जीवन के विविध प्रकरणों का अध्ययन करती है।

इन तीनों विद्याओं की हालत में हम देखते हैं कि—

१. प्रत्येक शाखा अपने लिए कार्य-क्षेत्र निश्चित करती है; और जहां तक बन पड़े, उसके अन्दर ही काम करती है।

२. निश्चित क्षेत्र में उसका प्रमुख काम तथ्य की खोज है। इसके लिए परीक्षण और निरीक्षण का प्रयोग होता है। प्रयोगशाला इन विभागों का केन्द्र होती है।

हम गणित के आचार्य के कमरे में आते हैं। दीवार पर एक काला बोर्ड लगा है, और प्रोफेसर की मेज पर चाक की डली पड़ी है। हम पूछते हैं—'प्रयोग-शाला कहां है!' उत्तर मिलता है—'यहां प्रकृति अध्ययन का विषय ही नहीं; प्रयोग-शाला का क्या काम? हम तो संख्या और आकाश के गुणों की बाबत चिन्तन करते हैं।' यहां भी क्षेत्र की सीमा विद्यमान है, परन्तु परीक्षण और निरीक्षण का स्थान मनन ने ले लिया है। प्राकृत विज्ञान में तथ्य की प्रधानता है। एक तथ्य, वास्तविक तथ्य, किसी मान्य प्रतिज्ञा को समाप्त कर देने के लिए पर्याप्त है। गणित में खोज का विषय 'तथ्य' नहीं, 'सम्बन्ध' है।

तत्व-ज्ञान का क्षेत्र क्या है?

इसके क्षेत्र के बाहर कुछ भी नहीं। विज्ञान की प्रत्येक शाखा सत्ता के किसी अंश का अध्ययन करती है; तत्व-ज्ञान का विषय समस्त सत्ता है। विस्तार में इसका क्षेत्र निस्सीम है। सारा विश्व इसके विवेचन का विषय है।

यह पहिला विशेषण है जो तत्व-ज्ञान को विज्ञान से अलग करता है।

इसका अर्थ यह नहीं कि तत्व-ज्ञान प्राकृत विद्याओं का समूह है। विज्ञान और तत्व-ज्ञान के दृष्टि-कोण में भेद है। जैसा हमने ऊपर कहा है, प्राकृत विज्ञान तथ्य की खोज को अपने उद्देश्य में प्रथम स्थान देता है। इसके लिए तथ्य की अपने आप में कीमत है। तत्व-ज्ञान के लिए, कोई तथ्य ज्ञान-मंडल के अंश की स्थिति में ही महत्व रखता है। ऐसे तथ्य की बाबत तत्व-ज्ञान पूछता है कि इसे समझ कर हम विश्व की बाबत क्या जान सकते हैं। अन्य शब्दों में, तत्व-ज्ञान मौलिक तत्वों को अपने विवेचन का विषय बनाता है।

भौतिक विज्ञान प्रकृति और उसकी गति की बाबत खोज करता है। गति एक स्थान से दूसरे स्थान को होती है, और इसमें कुछ काल लगता है। हम भौतिक विज्ञान से पूछते हैं—'तुम्हें कैसे मालूम है कि प्रकृति का अस्तित्व है? तुम्हें कैसे पता है कि देश और काल सत्ता के भाग हैं, और भ्रम-मात्र नहीं?' वह उत्तर देता है—'मैं इन झमेलों में नहीं पड़ता; मैं यह फर्ज करके चलता हूं कि प्राकृत पदार्थ विद्यमान हैं,

और देश-काल के ढांचे में विद्यमान हैं।' तत्व-ज्ञान किसी भी उलझन से बचना नहीं चाहता; यह कुछ फर्ज नहीं करता। जो कुछ विज्ञान की शाखाएं फर्ज करती हैं, यह उनकी जांच करता है, और अन्तिम सत्य को साक्षात् देखना चाहता है। इसका एकमात्र उद्देश्य, बुद्धि के प्रयोग से, सत्य और सत्ता को जानना है।

विज्ञान तथ्य को महत्व देता है; तथ्य को देखने के लिए, परीक्षण और निरीक्षण का प्रयोग करता है। जब हम बाहर की ओर देखते हैं, तो घटनाओं को ही देखते हैं। परन्तु जैसा एक उपनिषद् में कहा है, कभी-कभी हम अन्दर की ओर भी दृष्टि को फेरते हैं। वहां हम ज्ञान के साथ, पसन्द और नापसन्द के भावों को भी देखते हैं। हम उत्तम और अधम में भेद करते हैं। तथ्यों के अतिरिक्त 'मूल्य' का भी अस्तित्व है। विज्ञान 'मूल्य' के अस्तित्व की बाबत सोचता ही नहीं। भौतिक विज्ञान के लिए, राग और शोर दोनों शब्द-मात्र हैं। तत्व-ज्ञान आदर्शों को अपने अध्ययन-क्षेत्र में उच्च स्थान देता है। यह आदर्श सत्य, सौन्दर्य, और शुभ के रूप में व्यक्त होता है। कुछ लोग केवल सत्य को तत्व-ज्ञान का विषय बताते हैं; कुछ सौन्दर्य और भद्र को भी इसके साथ मिलाते हैं। कुछ भी हो, यह तो स्पष्ट ही है कि तत्व-ज्ञान विज्ञान की तरह, अपने आपको प्रकटनों की दुनिया में बन्द नहीं करता। यह पूछता है कि प्रकटनों से परे और इनके नीचे, कोई सत्ता है, या नहीं? और यदि है, तो उसका स्वरूप क्या है? वह सत्ता एक है, या अनेक? आत्मिक है, या अनात्मिक है? आत्मिक और अनात्मिक दोनों है, या इनमें से एक भी नहीं? विज्ञान ऐसे प्रश्नों में नहीं पड़ता; तत्व-ज्ञान में, ऐसे प्रश्न केन्द्रीय स्थान रखते हैं।

इस तरह, विज्ञान और तत्व-ज्ञान में तीन प्रमुख भेद हैं :—

(१) विज्ञान की प्रत्येक शाखा अपने लिए एक सीमित क्षेत्र निश्चित करती है; तत्व-ज्ञान का विषय समस्त सत्ता है।

(२) विज्ञान की प्रत्येक शाखा अपना अध्ययन कुछ धारणाओं को फर्ज करके आरम्भ करती है; तत्व-ज्ञान कुछ फर्ज नहीं करता। विज्ञान की फर्ज की हुई धारणाओं की जांच करना इसका काम है।

(३) विज्ञान प्रकटनों की दुनिया से परे नहीं जाता; यह भी नहीं पूछता कि इस दुनिया से परे कुछ है भी या नहीं। तत्व-ज्ञान के लिए यह प्रश्न अतीव महत्व का प्रश्न है। विवेचन का परिणाम कुछ भी हो, अन्तिम सत्ता पर विचार तो होता ही है।

# ३. धर्म और तत्व-ज्ञान

'बाहर की ओर देखो।'

'अन्दर की ओर देखो।'

'ऊपर की ओर देखो।'

प्राकृत विज्ञान का स्थायी आदेश है—'बाहर की ओर देखो।' बाहर की ओर हम देखते तो रहते ही हैं; विज्ञान कहता है कि जो कुछ देखें, उसे व्यवस्थित और गठित करें। मनोविज्ञान कहता है—'अन्दर की ओर देखो।' अन्दर की ओर भी हम देखते हैं, परन्तु अनियमित रूप में। मैं नदी के किनारे बैठा, उसके विस्तार, उसकी लहरों, उसके प्रवाह को देख रहा हूं। पीछे से एक मित्र आता है, और कहता है—'क्या कर रहे हो?' मैं कहता हूं—'नदी की स्थिति को देखता हूं, और सुहावने दृश्य का आनन्द ले रहा हूं।' मित्र के आने से पहले मैं बाहर की ओर देख रहा था; उसके प्रश्न पूछने पर मैंने अन्दर की ओर देखना आरम्भ किया, और देखा कि मन क्या कर रहा था। मनोविज्ञान भी कहता है कि जो कुछ मन की बाबत देखें, उसे व्यवस्थित करें। विज्ञान और मनोविज्ञान दोनों हमें तथ्यों की दुनिया में रखते हैं; हम देखते हैं कि वास्तविक स्थिति क्या है। जब हम ऊपर की ओर देखते हैं, तो हम तथ्य की दुनिया से ऊपर उठते हैं, और आदर्शों की दुनिया में पहुंचते हैं। अपने अल्प स्वत्व को विश्व का केन्द्र नहीं, अपितु इसका एक तुच्छ भाग समझते हैं। धर्म हमें ऐसा करने का आदेश देता है।

धर्म और धर्म-विवेचन या परमार्थ-विद्या में भेद है। जो पुरुष कभी पृथिवी से १० फुट ऊंचा नहीं हुआ, वह यह बात जान सकता है कि हम चन्द्रमा तक कैसे पहुंच सकते हैं। जो पुरुष कभी तैरा नहीं, वह तैरने की विधि पर अच्छा निबन्ध लिख सकता है। इसी तरह, यह सम्भव है कि एक पुरुष परमार्थ-विद्या में निपुण हो, और उसके जीवन में धर्म का प्रभाव कुछ न हो।

धर्म केवल मन्तव्य नहीं; जीवन का ढंग है। प्रकाश नहीं अपितु आत्म-सिद्धि इसका लक्ष्य है। इस लक्ष्य में मन्तव्य और कर्तव्य दोनों सम्मिलित हैं। यहां हमें, इसके मन्तव्य भाग को सम्मुख रखकर, देखना है कि धर्म और तत्व-ज्ञान के दृष्टि-कोण में क्या भेद है।

इस विषय में, जैसा हम आशा कर सकते हैं, मतभेद है।

फ्रांस के विचारक आगस्ट काम्ट का ख्याल है कि अपने मानसिक विकास में, मानव जाति तीन मंजिलों से गुजरी है। जिस जगत में हम जीवन व्यतीत करते हैं,

उसे समझना आवश्यक है। जो कुछ हो रहा है, उसके समाधान के सम्बन्ध में यह उत्थान हुआ है। पहिली मंजिल में, विश्व की घटनाओं को चेतन शक्तियों की क्रिया समझा जाता था। जब अनेक देवी-देवताओं के स्थान में, एक ईश्वर की पूजा होने लगी, तो भी प्राकृत घटनाओं के समाधान में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं हुआ। इस मंजिल को काम्ट 'आस्तिकवाद' की मंजिल कहता है।

दूसरी मंजिल में, चेतन देव या देवों का स्थान अचेतन शक्तियों ने लिया। पहिली मंजिल में लोग विश्वास करते थे कि ईश्वरीय व्यवस्था के अधीन चन्द्रमा पृथिवी के गिर्द घूमता है; दूसरी मंजिल में उन्होंने आकर्षण-शक्ति की शरण ली। इसी तरह, अन्य घटनाओं के लिए भी विविध शक्तियों की कल्पना की गयी। काम्ट इस मंजिल को दार्शनिक मंजिल का नाम देता है।

तीसरी मंजिल में, जिस पर मानव जाति अब चल रही है, कल्पना को एक ओर रख दिया गया है; और तथ्य और वास्तविकता को यथार्थ देखना ही पर्याप्त समझा गया है। यदि किसी समाधान की सम्भावना है, तो वह हमारी पहुंच से परे है। चन्द्रमा पृथिवी के गिर्द घूमता है, यह तथ्य है, ऐसा क्यों होता है इसकी बाबत हम कुछ नहीं कह सकते। वर्तमान मंजिल को काम्ट वास्तविक मंजिल का नाम देता है। काम्ट 'वास्तविकतावाद' का स्थापक है।

काम्ट के अनुसार, धर्म और तत्व-ज्ञान दोनों पूर्व काल में सांसारिक घटनाओं के समाधान स्वीकार किये जाते थे; अब दोनों का समय बीत चुका है।

एक दूसरा विचार न धर्म को और न तत्व-ज्ञान को भूतकाल की कल्पना बताता है। इसके अनुसार यह दोनों जीवित हैं, और जीवित रहेंगे। धर्म और तत्व-ज्ञान दोनों का लक्ष्य अन्तिम सत्ता को साक्षात् देखना है। इसी को आत्म-सिद्धि कहते हैं। भेद इतना है कि तत्व-ज्ञान बुद्धि पर पूरा भरोसा करता है, और जहां तक बुद्धि जाती है, वहीं ठहर जाने पर तैयार है; धर्म बुद्धि से अलग, विशेष आत्म-ज्योति को स्वीकार करता है, और उसे बुद्धि से अधिक महत्व देता है। कुछ दार्शनिक भी इसमें धर्म के दृष्टि-कोण को अपनाते हैं। वर्गसाँ के विचार में जीवन-शक्ति ही व्यापक सत्ता है। बुद्धि का काम तोड़-फोड़ है, और यह इस सत्ता को अपने असली रूप में नहीं दिखलाती। आत्म-ज्योति इसे वास्तविक रूप में बताती है। इसी प्रकार का ख्याल हमारे देश में भी मान्य रहा है। यहां तो तत्व-ज्ञान को कहते ही 'दर्शन' हैं। बुद्धि का काम सत्य को जानना नहीं; जाने हुए सत्य को अपने लिए और दूसरों के लिए प्रमाणित और निर्भ्रान्त करना है।

इस विचार के अनुसार धर्म और तत्व-ज्ञान का लक्ष्य एक ही सत्ता को जानना

है; परन्तु धर्म में बुद्धि के साथ कल्पना भी सम्मिलित हो जाती है, और धार्मिक ज्ञान में लक्ष्यात्मक अंश प्रस्तुत हो जाता है। तत्व-ज्ञान अपने आप को कल्पना के प्रभाव से बचाने का प्रयत्न करता है।

पश्चिम में, जर्मनी के दार्शनिक हीगल ने धर्म और तत्व-ज्ञान को अभिन्न बताया है। भारत में, उपनिषदों और गीता में कुछ लोग तत्व-ज्ञान पढ़ते हैं; बहुसंख्या इन्हें धर्म-पुस्तकों के रूप में देखती है।

एक तीसरे विचार के अनुसार, धर्म तत्व-ज्ञान से आगे जाता है। तत्व-ज्ञान आत्मिक जीवन के एक अंश के साथ सम्बद्ध है; इसे श्रद्धा और कर्म से सम्बन्ध नहीं। धर्म का उद्देश्य, जैसा ऊपर कह चुके हैं, आत्म-सिद्धि है; जिसमें ज्ञान, भक्ति और कर्म तीनों मूल्यवान हैं।

विज्ञान, तत्व-ज्ञान, और धर्म तीनों ज्ञान, सत्य-ज्ञान, प्राप्त करना चाहते हैं। सत्य-ज्ञान कैसे प्राप्त होता है ?

भारत में दर्शन-शास्त्र प्रमाणों को अपने अध्ययन का एक-प्रमुख विषय बनाता है। तीन प्रमाण सर्वमान्य हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द-प्रमाण। प्रत्यक्ष वह ज्ञान है जो इन्द्रियों के प्रयोग से प्राप्त होता है, या अन्दर की ओर दृष्टि डालने से स्पष्ट अनुभूत होता है। मैं हरेपन को देखता हूं, और यह अनुभव करता हूं कि इस समय थका हुआ हूं। ये मेरे स्पष्ट अनुभव हैं; इनकी बाबत मुझे सन्देह हो ही नहीं सकता। अनुमान में, प्रत्यक्ष की नींव पर, हम ऐसे तथ्यों तक पहुंचते हैं, जो इस समय प्रत्यक्ष नहीं, परन्तु उपयोगी स्थिति में प्रत्यक्ष हो सकते हैं। हम परमाणुओं को देखते नहीं, परन्तु जो कुछ देखते हैं, उसकी नींव पर, इनकी बाबत अनुमान करते हैं। हम समझते हैं कि यदि हमारी देखने की शक्ति बहुत बढ़ जाय, तो हम परमाणुओं को देख सकेंगे। प्रत्यक्ष और, इस पर आधारित अनुमान दोनों तथ्य की बाबत बताते हैं। मैं देखता हूं कि एक लड़का अपनी मां को पीट रहा है। यह एक तथ्य का ज्ञान है। मैं जानना चाहता हूं कि वह ऐसा क्यों करता है। स्थिति को देखकर, मैं अनुमान करता हूं कि उसके दिमाग में कुछ विकार है। यह भी एक तथ्य है। लड़के का पिता पास खड़ा तमाशा देख रहा है। मैं उसकी वृत्ति को नीच वृत्ति कहता हूं। यह ऊंच-नीच का ख्याल न प्रत्यक्ष है, न अनुमान है। ऐसे ज्ञान के लिए, शब्द-प्रमाण का सहारा लिया जाता है। विज्ञान में प्रत्यक्ष प्रधान है; तत्व-ज्ञान में अनुमान की प्रधानता है; धर्म शब्द-प्रमाण पर आश्रित है।

## ४. तत्व-ज्ञान के प्रमुख प्रश्न

तत्व-ज्ञान का उद्देश्य मानव-अनुभव का समाधान है।

विज्ञान तथ्यों को एकत्र करता है, उन्हें व्यवस्थित करता है, और उनका समाधान करने का यत्न करता है। यह 'क्या ?' 'कैसे ?' और 'क्यों ?'—तीन प्रश्नों का उत्तर देना चाहता है। विज्ञान के लिए, किसी तथ्य का समाधान उसे कुछ अन्य तथ्यों से संगत करना है। कारण-कार्य सम्बन्ध विज्ञान में मौलिक प्रत्यय है। जब हम कहते हैं कि कोई घटना कुछ अन्य विशिष्ट घटनाओं के होने पर अवश्य होती है, और उनके न होने की हालत में कभी नहीं होती, तो हमने उसका वैज्ञानिक समाधान कर दिया है। विचाराधीन घटना अब अकेली, असंगत घटना नहीं रही। दार्शनिक समाधान का उद्देश्य किसी घटना के निहित या अव्यक्त अर्थ को व्यक्त करना है। एक उदाहरण से इसे स्पष्ट कर सकते हैं।

'मैं यह लेख कोरे कागज पर लिख रहा हूं, मेरी रुचि इसे लिखने में है। मैं इस आशा के साथ लिख रहा हूं कि कुछ लोग इसे पढ़ेंगे, और सम्भवतः उन्हें इससे कुछ लाभ होगा। मैंने इस विषय का अध्ययन किया है; मुझे अपने ज्ञान को दूसरों तक पहुंचाना चाहिए। समाज का हित इसी में है।'

ऊपर का परिच्छेद मेरे वर्तमान अनुभव को प्रकट करता है। इसका साधारण अर्थ स्पष्ट ही है; परन्तु इसमें कुछ अस्पष्ट अर्थ भी निहित है, या नहीं ?

'मैं यह लेख कोरे कागज पर लिख रहा हूं।'

मैं अपने अस्तित्व की घोषणा करता हूं।

मैं अपने आपको कागज से पृथक करता हूं।

मैं कागज के एक गुण और अपनी क्रिया की बाबत कहता हूं।

मैं अपनी रुचि को अपनी क्रिया का कारण समझता हूं।

'मैं इस आशा के साथ लिख रहा हूं कि कुछ लोग इसे पढ़ेंगे।'

मेरा विश्वास है कि संसार में अन्य मनुष्य भी मौजूद हैं; और मनुष्य एक दूसरे को समझ सकते हैं; अर्थात् वे एक दूसरे से मानसिक सम्पर्क कर सकते हैं।

'उन्हें इससे कुछ लाभ होगा।'

यहां मैं तथ्य की दुनिया से निकल कर, 'मूल्य' की दुनिया में पहुंचता हूं; लाभ और हानि, भद्र और अभद्र में भेद करता हूं।

'मैंने इस विषय का अध्ययन किया है; मुझे अपने ज्ञान को दूसरों तक पहुंचाना चाहिए।'

वाक्य के दूसरे भाग में 'चाहिए' शब्द का प्रयोग कर्तव्य की ओर संकेत करता है।

'समाज का हित इसी में है।'

यहां मनुष्यों के अतिरिक्त 'समाज' का प्रत्यय भी आ गया है। मैं यह भी कहता हूं कि हित और अहित व्यक्तियों का ही नहीं होता, समस्त समाज का भी होता है।

छोटे से गद्यांश में मैं कितनी बातें कह गया हूं। अन्य पुरुष भी ऐसा ही करते हैं। जो कुछ भी मैंने कहा है, तत्व-ज्ञान उसे जांचना चाहता है। मैं कहता हूं—'इसमें जांचने की कौन सी बात है?' तत्व-ज्ञान कहता है—'उतावली' न करो; अभी देख लेते हैं।'

(१) मैं कहता हूं—'कागज कोरा है, और मैं इस पर लिख रहा हूं।' मैं कागज को उसके गुणों से अलग करता हूं; अपने आपको अपनी क्रिया से अलग करता हूं। यह निर्विवाद तथ्य नहीं। मेरी ज्ञानेन्द्रियां मुझे गुणों की बाबत बताती हैं; गुणों का अधिष्ठान या आश्रय तो मेरा अनुमान है। ज्ञानेन्द्रियां आप भी प्राकृत पदार्थ ही देखती हैं। इनके गुणों से परे भी हम कुछ नहीं जानते। सारा दृष्ट जगत गुणों का ही समूह है, या गुणों के अतिरिक्त गुणी का भी अस्तित्व है?

'हम इन गुणों को जानते हैं।' हम कौन हैं?

बाह्य जगत में गुण ही दिखायी देते हैं; अन्तरंग जगत में अवस्थाएं ही दिखायी देती हैं। अनुभव में तो प्रकटन ही प्रकटन हैं। क्या इन प्रकटनों के अतिरिक्त कोई अनुभव करने वाला भी है?

तत्व-ज्ञान का पहिला बड़ा प्रश्न यह है—

'सत्ता और प्रकटनों का भेद वास्तविक है, या कल्पना मात्र है?' 'द्रव्यवाद' द्रव्य की सत्ता को मानता है, और उसे गुणों का सहारा या आश्रय बताता है। प्रकटनवाद कहता है कि द्रव्य केवल प्रकटनों के समूह का नाम है। जैसा हम आगे देखेंगे, कुछ प्रकटनवादी केवल प्रकृति को, और कुछ प्रकृति और पुरुष दोनों को प्रकटनों में बदल देते हैं। बहुमत के अनुसार द्रव्य और गुण दोनों का अस्तित्व है; द्रव्य मुख्य है, और गुण गौण हैं।

(२) मैं तो चेतन हूं। कागज भी चेतन है या जड़ है? मैं चेतन और जड़ में भेद करता हूं, और कहता हूं कि जड़ और चेतन में जाति भेद है। तत्व-ज्ञान इस दावे को भी जांच किये बिना स्वीकार नहीं करता, इस विवाद में, निम्न मन्तव्य प्रस्तुत किये गये हैं :—

(१) सत्ता वास्तव में दो प्रकार की है; सहज-बोध की धारणा ठीक है। यह 'द्वैतवाद' है।

(२) सत्ता में जाति-भेद नहीं; यह सब एक प्रकार की है। चेतन और अचेतन का भेद आभास-मात्र है। यह सारा 'अद्वैतवाद' है।

अद्वैतवाद को प्रकृति और पुरुष में चुनना पड़ता है। 'प्रकृतिवाद' प्रकृति को अकेली सत्ता बताता है, और चेतना को इसके परिवर्तन का फल समझता है। एक और दल सारी सत्ताओं को चेतन या चेतना के रूप में देखता है। इनका मत 'आत्मवाद' है। अद्वैतवाद का एक तीसरा रूप भी है। यह प्रकृति और पुरुष दोनों को गुणों का पद देता है, और इन दोनों का अधिष्ठान एक ऐसी सत्ता को बताता है, जो एक ओर से चेतन और दूसरी ओर से अचेतन दिखायी देती है।

(३) मैं यह पुस्तक अन्य मनुष्यों के लिए लिखता हूं। मुझे यह कैसे मालूम है कि मेरे सिवाय अन्य मनुष्य भी हैं, और मैं उनसे सम्पर्क में आता हूं? स्वप्न में मुझे ऐसा ही भासता है। यह भी तो सम्भव है कि मेरा सारा जीवन एक निरन्तर स्वप्न हो। यह सन्देह 'एकवाद' और 'अनेकवाद' के विवाद को जन्म देता है। 'एकवाद' के अनुसार सारी सत्ता एक चेतन की है; 'अनेकवाद' अनेक चेतनों की सत्ता में विश्वास करता है।

(४) अनेकवाद के लिए एक समस्या यह है कि यदि सारे चेतन स्वतन्त्र द्रव्य हैं, तो वे एक दूसरे के सम्पर्क में कैसे आ सकते हैं? यदि मेरे ज्ञान की दुनिया मेरे पड़ोसी के ज्ञान की दुनिया से सर्वथा भिन्न है, तो हम दोनों के लिए कोई साझी भूमि है ही नहीं। लाइबनिज ने कहा कि ऐसा सम्पर्क होता ही नहीं; प्रत्येक मनुष्य का सारा ज्ञान आत्म-ज्ञान ही है।

(५) गद्यांश के अन्तिम भाग में हित और अहित, कर्तव्य और अकर्तव्य, की बाबत कहा है। यहां हम मूल्य के प्रत्यय को ले आते हैं। प्रश्न उठता है कि मूल्य वास्तव में पदार्थों में विद्यमान है, या केवल हमारा निरूपण ही है? कुछ लोग कहते हैं कि सौन्दर्य अपने आप में मूल्यवान है; कोई मनुष्य भी इसके मूल्य को न पहचाने, तो भी यह मूल्यवान ही होगा। इसके विपरीत, दूसरे कहते हैं कि हम किसी वस्तु को उसके सौन्दर्य के कारण पसन्द नहीं करते; अपितु इसे पसन्द करते हैं, और इस पसन्द के कारण, इसे सुन्दर कहते हैं।

कर्तव्य के सम्बन्ध में तत्व-ज्ञान कई प्रश्न खड़े करता है। कर्तव्य कर्म में कर्ता की स्वाधीनता स्वीकार की जाती है। स्वाधीनता कहीं है भी, या नियम का राज्य व्यापक है? कांट ने कहा था, शेष सारे पदार्थ नियम के अधीन कार्य करते हैं; मनुष्य

नियम के प्रत्यय के अधीन काम कर सकता है। क्या यह तथ्य है, या कल्पना ही है?

फिर कर्तव्य में समाज-हित को ध्येय बनाया जाता है। यह समाज क्या है? क्या व्यक्ति के लिए अपने हित से परे जाना सम्भव है? और यदि सम्भव है, तो ऐसा करना उचित है या नहीं?

एक अल्प गद्यांश के विश्लेषण ने हमें कई दार्शनिक प्रश्नों से परिचित कर दिया है। अगले पृष्ठों में हम इनकी बाबत पढ़ेंगे।

## ५. पश्चिमी दर्शन : ऐतिहासिक दृष्टि

तत्व-ज्ञान के प्रमुख प्रश्नों से परिचित होने का एक सरल तरीका यह है कि हम इसके इतिहास पर दृष्टि डालें। दर्शन-शास्त्र का इतिहास मानव के दार्शनिक विवेचन की कथा ही है। पश्चिमी दर्शन के इतिहास की एक खूबी यह है कि हम इसमें एक नियमित उत्थान देखते हैं।

इस इतिहास को प्राय: तीन भागों में बांटा जाता है :—

(१) प्राचीन तत्व-ज्ञान

(२) मध्यकालीन तत्व-ज्ञान

(३) नवीन तत्व-ज्ञान

कुछ लोग मध्यकालीन तत्व-ज्ञान को प्राचीन और नवीन काल में मेल करने वाली कड़ी समझते हैं; और इतिहास के दो भागों को ही महत्व देते हैं। प्राचीन काल में जो स्वतन्त्र विचार हुआ, वह यूनान में हुआ। रोम का विचार यूनान के विचार पर आधारित था। आधुनिक काल में, योरोप के महाद्वीप में कई स्थानों में विवेचक प्रकट हुए। इस ख्याल से पश्चिमी दर्शन के इतिहास को यूनानी और यूरोपीय दो भागों में बांटा जाता है।

दार्शनिक विचार के तीन विषय हैं—बाह्य जगत, जीवात्मा, और परमात्मा। तत्व-ज्ञान इन्हें और इनके आपस के सम्बन्ध को समझना चाहता है। मनुष्य के मन की बनावट कुछ ऐसी है, कि वह इन सम्बन्धों को जोड़ों में देखता है। प्राचीन यूनान में लोग जानना चाहते थे कि प्राकृत जगत कहां से आया, कैसे आया, और क्यों आया? आरम्भ में, विचारकों ने जगत के मूल-तत्व को इसके किसी अंश में देखा। किसी ने जल को, किसी ने आकाश को, किसी ने अग्नि को मूल-कारण बताया। रौनक्सेगोरस ने कहा कि मूल-कारण को प्रकृति में ढूढ़ना व्यर्थ है? इसके लिए चेतन शक्ति की आवश्यकता है। इस विशेषता के कारण ही, पीछे अरस्तू ने कहा कि सारे अन्धों में केवल

रौनक्सेगोरस ही एक देखने वाला था। इसके पीछे यूनान में प्रमुख प्रश्न विश्व और इसके चेतन मूल-कारण के सम्बन्ध को समझना हो गया।

मध्यकाल में प्रमुख प्रश्न आत्मा और परमात्मा का सम्बन्ध बना। विचारकों के मन अफलातूं और अरस्तू के प्रभाव में थे। ईसाई मत को भी वे स्वीकार कर चुके थे। उनका यत्न यह था कि बाइबिल की शिक्षा को इन दार्शनिकों की शिक्षा के अनुकूल सिद्ध करें। एक जकड़ में ही, विचार अपनी स्वाधीनता खो देता है; यहां तो दो जकड़ें विद्यमान हो गयीं। इसका फल यह हुआ कि मध्यकाल का दर्शन अल्प मूल्य का समझा जाता है। इसमें विचार की स्वतन्त्रता बहुत कम है।

नवीन काल का आरम्भ १५वीं शती से होता है। इस युग का प्रमुख चिह्न विचार की स्वाधीनता है। तत्व-ज्ञान को धर्म से अलग किया गया, और अफलातूं और अरस्तू को भी आलोचन का विषय बना दिया गया। इस मनोवृत्ति को मान्य बनाने में बेकन का बड़ा हाथ था। बेकन का मौलिक सिद्धान्त यह था—'वास्तविकता को देखो; अपनी कल्पना से आरम्भ न करो।' अरस्तू ने कहा था कि नक्षत्र सूर्य के गिर्द वृत्त में घूमते हैं, क्योंकि वृत्त ही त्रुटि-रहित आकार है। बेकन ने कहा—'वृत्त त्रुटि-रहित आकार है या नहीं; और नक्षत्र अपनी गति में त्रुटि-रहित चक्कर काटते हैं या नहीं? इन बातों को अलग रहने दो; देखो कि तथ्य क्या है।' परीक्षण अनुसन्धान में प्रमुख क्रम बना। जान लाक ने वर्षों अपनी मानसिक अवस्थाओं का परीक्षण करके, अपनी विख्यात पुस्तक लिखी।

इस मनोवृत्ति को सशक्त बनाने के साथ, नवीन विचार में दृष्टि-कोण का परिवर्तन भी हुआ। प्राचीन और मध्यकाल के विवेचन का प्रमुख विषय तत्व का स्वरूप था। नवीन विचारकों ने कहा—'पहले यह जानने का यत्न करना चाहिए कि हमारे ज्ञान की सीमाएं क्या हैं। ज्ञान-मीमांसा ने दार्शनिक विचार में प्रमुख स्थान प्राप्त कर लिया। इस तरह, नवीन काल में, पुरुष और प्रकृति का सम्बन्ध प्रमुख प्रश्न बन गया है।

## ६. भारतीय दर्शन

भारत के दर्शन और पश्चिमी दर्शन में एक बड़ा भेद है। पश्चिम में दार्शनिक विचार एक धारा में बहे हैं। वहां के इतिहास में हम देखते हैं कि किस तरह एक पग के बाद दूसरा, और दूसरे के बाद तीसरा पग उठता है। भारत में विचार एक धारा में नहीं, कई धाराओं में बहे हैं। इसलिए हम, शब्दों के साधारण अर्थ में, भारत के दर्शन-शास्त्र का इतिहास नहीं लिख सकते; दर्शन की विविध शाखाओं पर निबन्ध

लिख सकते हैं। यदि दार्शनिक उत्थान की बाबत कुछ कह सकते हैं, तो शाखाओं के सम्बन्ध में कह सकते हैं।

भारत के दर्शन में भी तीन युग प्रमुख हैं। पहले युग में धर्म, तत्व-ज्ञान और नीति मिश्रित मिलते हैं। तर्क की अपेक्षा कविता और उपमा पर अधिक बल दिया जाता है। उपनिषदों में जो कहना होता है, कह दिया जाता है; वाद-विवाद को परे रखा जाता है। दूसरा युग तत्व-ज्ञान की शाखाओं का है। इनमें बहुधा तर्क की प्रधानता है। तीसरे युग में, स्वतन्त्र विचारों का स्थान भाषा और टीकाओं ने ले लिया है। हमारे लिए छः दर्शनों का विशेष महत्व है। जब हम इन पर सामान्य दृष्टि डालते हैं, तो कुछ चिह्न स्पष्ट रूप में हमारे सम्मुख आते हैं :—

(१) भारत में दर्शन-शास्त्र के लिए ज्ञान नहीं, आत्म-सिद्धि महत्व की वस्तु है। इस सिद्धि की बाबत कुछ मतभेद होता है, परन्तु अन्तिम ध्येय यही है।

सांख्य दर्शन की प्रमुख पुस्तक 'सांख्यसप्तति' की पहिली कारिका इस तरह आरम्भ होती है—'तीनों प्रकार दुःख चोट लगाता है। इसलिए, उसको नाश करने वाले कारण की जिज्ञासा होती है।'

सांख्यसूत्रों में भी पहला सूत्र कहता है—'इस शास्त्र में, तीन प्रकार के दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति को परम पुरुषार्थ कहते हैं।'

दुःख की अत्यन्त निवृत्ति के लिए प्रकृति और पुरुष में भेद करना अनिवार्य साधन है। योग दर्शन में आत्मा और परमात्मा का संयोग परम लक्ष्य है। उसके लिए तीन प्रकार के साधन बताये गये हैं :—

नैतिक संयम (यम, नियम)

शारीरिक संयम (आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार),

मानसिक संयम (धारणा, ध्यान, समाधि)।

यहां भी उद्देश्य व्यावहारिक ही है।

कुछ विदेशी विचारक आक्षेप करते हैं कि भारतीय दर्शन संसार को दुःखमय समझता है, और इसलिए अभद्रवादी है। यह आक्षेप निराधार है। भारत का दर्शन-शास्त्र दुःख के अस्तित्व की ओर से आंख बन्द नहीं करता; इसे एक विकट तथ्य स्वीकार करता है। परन्तु साथ ही यह भी कहता है कि इस दुःख से छुटकारा पाना सम्भव है, और ऐसे परिणाम के लिए साधन बताता है। ऐसे मन्तव्य को अभद्रवाद कहना अनुचित है।

(१) जैसा हमने देखा है, पश्चिम में प्राचीन और मध्यकाल में तत्व का स्वरूप जानना मुख्य प्रयोजन था; नवीन काल में ज्ञान-मीमांसा की ओर ध्यान फिरा।

भारत में, ज्ञान-मीमांसा को आरम्भ से ही दर्शन शास्त्र का अंग समझा गया है। सत्यासत्य की परख की कसौटी को 'प्रमाण' कहते हैं। लगभग सभी शाखाओं में 'प्रमाण' विचार का विषय है। इस पक्ष में, भारत के विचारकों ने पश्चिमी विचारकों की अपेक्षा, एक महत्व के रहस्य को बहुत पहले समझ लिया था।

(३) जब हम प्रमाणों की बाबत भिन्न शाखाओं के मत को देखते हैं, तो 'शब्द-प्रमाण' को सब में मौजूद पाते हैं। शब्द-प्रमाण से अभिप्राय श्रुति या वेद से है। अन्तिम उद्देश्य मोक्ष है। इस तरह, भारत में तत्व-ज्ञान धर्म से जुड़ा हुआ है। यहां ज्ञान के महत्व को पश्चिम की अपेक्षा बहुत बढ़ाया है। गीता में कहा है कि ज्ञान के सदृश कोई वस्तु पवित्र करने वाली नहीं। पश्चिम में, सुकरात ने ज्ञान को शुद्ध आचार से मिला दिया था; पीछे स्पीनोजा ने भी दार्शनिक विचार को परमात्मा का 'बौद्धिक प्रेम' कहा; परन्तु अब बहुत थोड़े दार्शनिक गीता की धारणा को अपनाने के लिए तैयार हैं।

# ज्ञान-मीमांसा

पिछले अध्याय में हमने तत्व-ज्ञान की बाबत कुछ सामान्य विवरण के रूप में कुछ कहा है। आने वाले पृष्ठों में इसके विविध भागों पर विस्तार से कहेंगे। पश्चिम में ज्ञान के तत्व को अनुसन्धान का विशेष विषय बनाया गया है। यहां हम इस विषय की ओर साधारण संकेत ही कर सकते हैं।

वर्तमान अध्याय में, निम्न प्रश्नों का उत्तर देने का यत्न किया जायगा :—

(१) ज्ञान का अभिप्राय या अर्थ क्या है?
(२) क्या ज्ञान की प्राप्ति हमारी पहुंच में है?
(२) ज्ञान के मौलिक रूप क्या हैं?
(४) ज्ञान प्राप्त कैसे होता है?
(५) ज्ञान में सत्य और असत्य का भेद कैसे किया जाता है?
(६) क्या हमारा ज्ञान किन्हीं सीमाओं में बन्द है? यदि बन्द है, तो वह सीमाएं क्या हैं?

## १. ज्ञान क्या है?

हम अपने अनुभव से आरम्भ करते हैं, और इसका समाधान करना चाहते हैं। अनुभव में, ज्ञान के साथ, भाव और क्रिया भी सम्मिलित हैं। सारा ज्ञान भी एक प्रकार का नहीं होता। मैं एक कहानी पढ़ता हूं। मैं जानता हूं कि कहानी लिखने वाला कल्पित पुरुषों की बाबत कह रहा है; और जो कुछ वह कहेगा, वह किसी विशेष पुरुष की बाबत सत्य नहीं होगा, परन्तु मानव-प्रकृति के अनुकूल ही होगा। मैं किसी झिझक के बिना, लेखक के कथन को यथार्थ फर्ज कर लेता हूं। यदि लेखक इतिहास लिख रहा है, तो मैं आशा करता हूं कि जो कुछ वह तथ्य के रूप में प्रस्तुत करता है, वह सत्य ही होगा। जहां मुझे उसके कथन में त्रुटि दिखायी देती है, वहां स्वीकृति का स्थान सन्देह ले लेता है। जब मैं गणित पर पढ़ता हूं, तो फर्ज करने या तथ्य की

स्वीकृति-अस्वीकृति का प्रश्न नहीं होता; वहां तो देखना होता है कि जो कुछ लेखक कह रहा है, वह युक्ति-युक्त है, या नहीं ।

जब हम कहते हैं कि हम किसी तथ्य या सम्बन्ध की बाबत जानते हैं, तो हमारा अभिप्राय यह होता है कि हमारा बोध सन्देह से खाली है, और हम अपने व्यवहार को उस पर आधारित कर सकते हैं। कभी-कभी यह विश्वास निराधार होता है। ऐसी हालत में हमारा ज्ञान मिथ्या-ज्ञान होता है। योग-दर्शन में इसे विपर्य्यय का नाम दिया गया है।

मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि हमारा सारा बोध परिवर्तन का बोध होता है। सत्य-ज्ञान और मिथ्या-ज्ञान एक दूसरे के अभाव में सम्भव ही नहीं। हमारी साधारण अवस्था विश्वास की होती है। जब किसी कारण से इस विश्वास को चोट लगती है, तो हम इसकी जांच करने लगते हैं, इस आशा से कि हम पहले विश्वास के स्थान में किसी नये विश्वास को स्थापित कर सकेंगे, और उसे व्यवहार का आधार बनाने में पहिली कठिनाई नहीं होगी। पक्षी की उड़ान विश्राम के एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुंचने के लिए होती है। इसी तरह चिन्तन या विचार ऐसी अवस्था है, जो हमें त्याज्य विश्वास से किसी अन्य विश्वास तक पहुंचाती है, जहां हम अपने आपको सुरक्षित पाते हैं। ऐसा विश्वास सत्य हो या न हो, हमें उस समय के लिए ज्ञान दिखायी देता है।

## २. क्या ज्ञान की प्राप्ति हमारी पहुंच में है ?

### १. नवीन वस्तुवाद

जैसा अभी कहा गया है, मिथ्या-ज्ञान होने पर हम सत्य और असत्य में भेद करते हैं। योग-दर्शन के शब्दों में, 'जो ज्ञान वस्तु के यथार्थ रूप में स्थिर नहीं, उसे विपर्य्यय या मिथ्या-ज्ञान कहते हैं।' ऐसी हालत में हम, एक वस्तु को कोई अन्य वस्तु समझ लेते हैं, और समय बीतने पर हमें अपनी भूल का पता लग जाता है। हम किसी निर्जन स्थान में भटक रहे हैं, और प्यास से व्याकुल हैं। हमें दूर से चमकती हुई वस्तु दिखायी देती है, और हम उसे जल समझ कर उधर चल पड़ते हैं। वहां पहुंच कर पता लगता है कि चमकीली वस्तु रेत थी, पानी न था। कैसे पता लगता है? हाथ डालते हैं, तो यह आसानी से उसमें घुस नहीं सकता; न गीला होता है। मुंह में डालते हैं, तो ठोस जर्रे जीभ से लगते हैं। आंख ने कहा था—'पानी है'; त्वचा कहती है—'रेत है।' हम त्वचा की साक्षी को मान्य समझते हैं। यह भी आवश्यक नहीं कि हम आप वहां पहुंच कर पानी और रेत के दर्मियान निर्णय करें। कोई और पुरुष उधर से आता है, और

कहता है कि वह उस स्थल पर से चल कर आया है; पानी पर तो चल नहीं सकता था। ऐसे भ्रम में एक पदार्थ को कोई दूसरा पदार्थ समझ लिया जाता है। एक और प्रकार के मति-भ्रम में बाहर पदार्थ होता ही नहीं, और हमारी कल्पना छाया को वास्तविक सत्ता का रूप दे देती है। जिस पुरुष ने हत्या की हो, उसे यही प्रतीत होता है कि उसका पीछा हो रहा है। शेक्सपियर के नाटक 'मैक्बेथ' में लेडी मैक्बेथ को यही मालूम होता है कि रक्त के निशान समुद्र भर के पानी से धुल नहीं सकते। स्वप्न में हम सब कल्पना की दुनिया को प्राकृत दुनिया समझते हैं। जब जागते हैं तो अपने आप को फिर स्थायी, वास्तविक दुनिया में पाते हैं।

इस तरह हमें माया या भ्रम की बाबत पता लगता है। और हम सत्यासत्य में भेद करते हैं।

जैसा हम कह चुके हैं, तत्व-ज्ञान किसी धारणा को फर्ज करके नहीं चलता; यह प्रत्येक धारणा की जांच करता है। जरा देखें कि ऊपर के विवरण में, हमने बिना जांचे कुछ स्वीकार तो नहीं कर लिया।

आंख ने कहा था—'चमकीली वस्तु जल है।' त्वचा ने कहा—'रेत है।' हमने त्वचा की साक्षी को अधिक महत्व दिया। ऐसा क्यों किया? तत्व-ज्ञान तो यह नहीं बताता कि ज्ञान देने में, एक इन्द्रिय दूसरी इन्द्रिय की अपेक्षा सदा अधिक विश्वास की पात्र है।

हमारे देखने और स्पर्श करने का समय एक न था। हमें यह कैसे मालूम है कि जो कुछ हमने देखा, उसी को पीछे स्पर्श किया? यह भी तो सम्भव है कि हमने जो कुछ देखा, वह जल था; अन्तर में जल तो समाप्त हो गया, और उसके स्थान में रेत प्रस्तुत हो गयी। हमारे ज्ञान का विषय एक न था; दो थे। यदि ऐसा है, तो भ्रम का प्रश्न ही नहीं उठता।

इस समाधान में एक कठिनाई रह जाती है। जिस वस्तु को मैं पानी देखता हूं, उसे अन्य मनुष्य रेत पाते हैं। मेरा ज्ञान उनके ज्ञान के प्रतिकूल है। यहां हम फर्ज कर रहे हैं कि सब मनुष्यों की दुनिया सांझी और स्थायी है। यह भी तो जांच करने की धारणा है। यदि हम सबकी दुनिया एक ही सांझी दुनिया नहीं, अपितु हर एक अपनी निजी दुनिया में रहता है, तो मतभेद का कोई अवकाश नहीं रहता; और सत्य-असत्य का भेद भी मिट जाता है।

बर्ट्रेण्ड रस्सल का ख्याल है कि जिन इन्द्रिय-उपलब्धों से बाहर की दुनिया बनी है, वह सबके सांझे नहीं, और संभवतः अनुभव की समाप्ति के साथ ही समाप्त हो जाते हैं। स्थायी और सांझी दुनिया के ख्याल को मन से निकाल दें,

तो सारा ज्ञान यथार्थ ज्ञान ही बन जाता है; और यथार्थ-अयथार्थ का भेद मिट जाता है।

स्वप्न की हालत में भी, हम फर्ज करते हैं कि जिस दुनिया में हम स्वप्न के पूर्व और पीछे रहते हैं, उसी में हम स्वप्न के समय भी विद्यमान थे, और भ्रम में इधर-उधर घूमते रहे। यह भी स्वयं-सिद्ध नहीं। यह सम्भव है कि हम स्वप्न और जाग्रति में दो विभिन्न जगतों में रहते हैं, और इन दोनों का कभी मेल नहीं होता।

इस विचार के अनुसार सत्य और असत्य का भेद किसी पक्की नींव पर स्थिर नहीं।

### २. सन्देहवाद

जैसा हम कह चुके हैं, प्राचीन यूनान में प्रमुख दार्शनिक प्रश्न प्राकृत जगत का समाधान था। रौनक्सेगोरस ने कहा कि इस समाधान के लिए बुद्धि की शरण लेनी चाहिए। उसका अभिप्राय यह था कि विश्व में एक चेतन शक्ति विद्यमान है। साफिस्ट सम्प्रदाय ने इस शक्ति का स्थान व्यक्ति की बुद्धि को दिया। 'मनुष्य सभी वस्तुओं का मापक है।' जो कुछ मुझे प्रतीत होता है, वह मेरे लिए सत्य है; जो कुछ मेरे पड़ोसी को प्रतीत होता है, वह उसके लिए सत्य है, ज्ञान व्यक्ति की सम्मति से भिन्न कुछ नहीं।

इस विचार के विरुद्ध सुकरात ने बलपूर्वक कहा, परन्तु सन्देहवाद समय-समय पर प्रकट होता ही रहा है। सन्देहवाद अपने पोषण में निम्न बातों पर जोर देता है :—

(१) मेरी ज्ञानेन्द्रियों में एक की साक्षी दूसरी की साक्षी के प्रतिकूल होती है।

(२) जो कुछ मुझे प्रतीत होता है, वह मेरी शारीरिक और मानसिक अवस्था, मेरी स्थिति और मेरे वातावरण पर निर्भर होता है। इन तीनों में से किसी में परिवर्तन हो, तो मेरे ज्ञान में भी परिवर्तन हो जाता है।

(३) जो कुछ एक मनुष्य को भासता है, वह दूसरे को नहीं भासता। दार्शनिकों में भी बहुत मतभेद होता है; कोई सिद्धान्त ऐसा नहीं, जिसका मण्डन और खण्डन करने वाले मौजूद नहीं।

सम्मतियों के इतने विरोध को देखते हुए, हम यही कह सकते हैं कि हम सत्ता के स्वरूप की बाबत कुछ नहीं जानते। तत्व-ज्ञान का यत्न एक अन्धे का यत्न है, जो अन्धेरे कमरे में, किसी काली बिल्ली को, जो वहां मौजूद ही नहीं, देखना चाहता है।

प्राचीन काल में पिर्हो का नाम और नवीन काल में डेविड ह्यूम का नाम सन्देहवाद के साथ विशेष रूप से सम्बद्ध हैं।

पिर्हो के अनुसार, किसी मुनि के लिए निम्न प्रश्नों का उत्तर ढूंढ़ना आवश्यक है :—

(१) सांसारिक सत्ता क्या है? उसका स्वरूप क्या है?

(२) इस सत्ता के साथ हमारा सम्बन्ध क्या है?

(३) इसकी ओर हमारी मनोवृत्ति कैसी होनी चाहिए?

पहले प्रश्न के सम्बन्ध में, पिर्हो ने कहा कि हम सत्ता के स्वरूप की बाबत कुछ नहीं जानते।

दूसरे की बाबत कहा कि हममें हर एक सत्ता की बाबत अपनी राय बनाता है; इससे परे नहीं जा सकता।

तीसरा प्रश्न पिर्हो की दृष्टि में विशेष महत्व का प्रश्न है। सन्देहवादी को भी जीवन व्यतीत करना ही होता है। वह अपने लिए व्यवहार-पथ कैसे चुने?

सारी क्रिया इच्छा का फल होती है। मैं किसी वस्तु की इच्छा इसलिए करता हूं कि उसे अन्य वस्तुओं से, जो मेरी पहुंच में हैं, अधिक मूल्यवान समझता हूं। सन्देहवादी मुनि की समझ में आ गया है कि हम वस्तुओं का मूल्य लगाने में, अपनी निजी राय कायम करते हैं, जो सर्वथा सन्देह-युक्त होती है। हमें कभी निश्चय रूप से पता नहीं लग सकता कि हमारी राय ठीक है। ऐसी स्थिति में, मुनि पदार्थों में प्रीति और अप्रीति दोनों को छोड़ देता है। अनुराग को छोड़ देने पर, उसकी क्रिया आप ही घटने लगती है। आदर्श तो अकर्म है, परन्तु सम्पूर्ण अकर्म सम्भव नहीं। इसलिए, मुनि वही कुछ कहता है, जिसका करना अनिवार्य होता है। सामाजिक जीवन में वह लोकाचार और राज्य-नियम पर चलता है, परन्तु यह नहीं समझता कि यह व्यवहार सर्वश्रेष्ठ है। श्रेष्ठ और अश्रेष्ठ के भेद के लिए सन्देहवाद में कोई स्थान ही नहीं।

सन्देहवादी कहता है—'मैं कुछ नहीं जानता, न कुछ जान सकता हूं।' इस निर्णय की कमजोरी कुछ सन्देहवादियों पर तुरन्त स्पष्ट हो जाती है, और वह इस को एक नया रूप देते हैं : 'मैं यह नहीं जानता कि मैं कुछ जानता हूं, या नहीं जानता।' यह हीला उनकी सहायता नहीं कर सकता। जो कुछ वे अब कहते हैं, वह भी तो एक निर्णय है, जिसे वे असन्दिग्ध स्वीकार करते हैं। वास्तव में सन्देहवादी का कथन यह है कि जो कुछ वह अब कह रहा है, वह तो सत्य है; इसके अतिरिक्त कोई वाक्य भी असन्दिग्ध नहीं। यह दावा स्पष्ट रूप में निरर्थक है। सन्देहवादी को अकर्म के साथ, पूर्ण मौन भी अपना ध्येय बनाना चाहिए। जब भी वह कुछ कहता है, अपने सिद्धान्त का खण्डन करता है।

ह्यूम ने भी तत्व-ज्ञान पर कड़ा प्रहार किया। मैं बाह्य पदार्थों में गुणों का भेद

करता हूं। इसी तरह मैं उन्हें एक दूसरे से अलग कर सकता हूं। यह गुण दो प्रकार के होते हैं—प्रधान और गौण। रूप, रस आदि गौण गुण कहलाते हैं; परिमाण, आकृति, गति-अगति मुख्य गुण कहलाते हैं। ह्यूम से पहिले, बर्कले ने कहा था कि यह गुण बाह्य पदार्थों में नहीं होते। हमारे मन की अवस्थाएं हैं। ह्यूम ने इसे स्वीकार किया। यदि ऐसा ही है, तो बाहर तो कुछ है ही नहीं, हम बाहर के पदार्थों में भेद क्या करेंगे? ह्यूम सामान्य-बोध से उसके दृष्ट जगत को छीन लेता है।

विज्ञान कारण-कार्य सम्बन्ध पर आश्रित है। ह्यूम कहता है कि जब हम बार-बार एक घटना को दूसरी घटना के पीछे आती देखते हैं, तो उन्हें कारण-कार्य के रूप में देखने लगते हैं। यह सम्बन्ध वास्तव में बाह्य जगत में विद्यमान नहीं; हमारी आदत इसकी रचना करती है। हमारा अनुभव सीमित है। यह आवश्यक नहीं कि जो कुछ अब तक होता रहा है, आगे भी होता रहे। विज्ञान का कोई निर्णय भी पूर्ण रूप से निश्चित नहीं होता।

तत्व-ज्ञान में प्रमुख प्रत्यय द्रव्य का है। ह्यूम ने इसको भी सन्देह से आच्छादित कर दिया। हमें गुणों का ज्ञान होता है। वास्तव में वे एक दूसरे से असम्बद्ध होते हैं; हमारी कल्पना उन्हें गठित समझती है, और हम द्रव्य का जिक्र करने लगते हैं।

### ३. ज्ञान के मौलिक रूप

ज्ञान के दो मौलिक रूप हैं: प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष। अप्रत्यक्ष ज्ञान में अनुमान का अंश भी होता है। यह क्रिया स्मृति की सहायता से हो सकती है। मैं दूर से चमकीलापन देखता हूं, और कहता हूं कि वहां रेत है। मैंने रेत को पहिले भी देखा है, और विविध ज्ञानेन्द्रियों ने मुझे विविध गुणों का बोध कराया है। मैं इस समय की देखी हुई चमक को पहिले देखी हुई चमक के समान पाता हूं, और अनुमान करता हूं कि जो अन्य गुण, पूर्व अवसरों पर, इस चमक के साथ विद्यमान थे, वे अब भी विद्यमान हैं। मैं रेत को देख रहा हूं।

प्रत्यक्ष में हम इन्द्रिय-उपलब्धों और अपनी मानसिक अवस्थाओं को देख सकते हैं। इनकी स्मृति भी हमें स्पष्ट दिखायी देती है। साधारण बातचीत में हम कहते हैं कि हम फल को देखते हैं। आंख बन्द करके किसी वस्तु को छुएं तो उसे भी पहचान लेते हैं। इन हालतों में, हमें किसी अकेले गुण का नहीं, अपितु किसी पदार्थ का बोध होता है। जन्म के समय बच्चे का ज्ञान कुछ ही हो, बड़ों का ज्ञान निरे गुणों का बोध नहीं होता; पदार्थों का बोध होता है। कुछ विचारकों के अनुसार अब हमारा सारा ज्ञान अप्रत्यक्ष है, क्योंकि इसमें अनुमान का अंश मिला होता है।

डेकार्ट के विचारानुसार हमें अपनी आत्मा के अस्तित्व का ज्ञान भी प्रत्यक्ष ज्ञान के रूप में होता है। अन्य विचारक कहते हैं कि हमें प्रत्यक्ष ज्ञान तो मानसिक अवस्थाओं का होता है; आत्मा को हम इन अवस्थाओं का आश्रय समझते हैं। यह प्रत्यक्ष का नहीं, अनुमान का विषय है।

अन्य आत्माओं का बोध हमें कैसे होता है? हम उनका साक्षात् दर्शन नहीं कर सकते। हमारे शरीर की बनावट और उसकी क्रियाएं कुछ अन्य शरीरों की बनावट और उनकी क्रियाओं से मिलती हैं। हम समझते हैं कि हमारी तरह, उन शरीरों की क्रियाएं भी आत्मा की प्रेरणा का फल हैं। बच्चा स्वभाव से समझता है कि अन्य पदार्थ भी उसकी तरह चेतन प्राणी हैं। पीछे कुछ पदार्थों को चेतन प्राणियों की सूची से निकालने लगता है। उसके हाथ से खिलौना गिर पड़ता है, और वह रोने लगता है। खिलौना उठ कर उसके हाथ में नहीं आता। माता आती है, और खिलौने को उठा कर उसके हाथ में दे देती है। माता का व्यवहार खिलौने के व्यवहार से भिन्न है। बच्चा न जाने हुए, इस सूत्र का प्रयोग करता है—'जो कुछ मेरी परवाह करता है, उसमें मन है; जो मेरी परवाह नहीं करता, उसमें मन नहीं।'

प्रत्यक्ष ज्ञान ज्ञाता और ज्ञेय का स्पष्ट सम्बन्ध है। यह डेकार्ट का मत था। 'न्याय दर्शन' में भी यही सिद्धान्त है। इस दर्शन में, प्रत्यक्ष के तीन लक्षण बताये गये हैं :—

(१) ऐसा ज्ञान सन्देह-युक्त नहीं होता।

(२) इसमें किसी प्रकार की भ्रान्ति नहीं होती।

(३) यह किसी शब्द का अर्थ नहीं होता, अपितु इन्द्रियों और उनके विषय का सीधा सम्पर्क होता है।

जब हम किसी पदार्थ को देखते हैं, तो कभी-कभी निश्चय से नहीं कह सकते कि वह क्या है। जो कुछ हम देख रहे हैं, वह वृक्ष का सूखा तना है, या मनुष्य है? कभी उसे तने के रूप में देखते हैं, कभी मनुष्य के रूप में; परन्तु यह नहीं होता कि उसमें मनुष्य और वृक्ष दोनों के अंशों को मिला हुआ देखें। जब तक सन्देह की अवस्था बनी रहती है, हमारा ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता।

सन्देह दूर हो जाने पर भी सम्भव है कि हमारा ज्ञान सत्य ज्ञान न हो। वास्तव में वहां वृक्ष का तना हो, और हम उसे भ्रान्ति में मनुष्य समझें। ऐसा मिथ्या-ज्ञान भी प्रत्यक्ष नहीं।

प्रत्यक्ष ज्ञान का तीसरा लक्षण यह है कि वह अशाब्द हो। 'गौ' शब्द को सुन कर हमारे मन में एक पशु का चित्र प्रस्तुत हो जाता है। यह ज्ञान भी प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं, क्योंकि गौ दृष्टि-क्षेत्र में मौजूद ही नहीं।

जहां किसी शब्द का अर्थ समझ कर हमें किसी वस्तु का ज्ञान होता है, वहां ज्ञाता और ज्ञेय के अतिरिक्त, चिह्न या संकेत भी विद्यमान हो जाता है; और ज्ञान दो पदार्थों का नहीं, अपितु तीन पदार्थों का सम्बन्ध दिखायी देता है।

अमेरिका के दार्शनिक चार्ल्स पीअर्स का ख्याल है कि हमारा सारा ज्ञान किसी चिह्न की व्याख्या ही होता है। इसका अर्थ यह है कि सारा ज्ञान अप्रत्यक्ष है, और इसमें ज्ञाता, ज्ञान का विषय, और इसका कोई चिह्न सम्मिलित होते हैं। आम ख्याल के अनुसार, मैं फूल को देखता हूं। पीअर्स कहता है कि मैं केवल रूप-रंग देखता हूं, और तुरन्त, इस गुण को कुछ अन्य गुणों का साथी समझ कर, फल का चिन्तन करता हूं। ज्ञान-मीमांसा में पीअर्स ने चिह्नों की व्याख्या को केन्द्रीय स्थान दिया है।

चिह्न अनेक प्रकार के होते हैं। इनमें तीन प्रमुख हैं :—

(१) वह चिह्न जो, कारण-कार्य सम्बन्ध की नींव पर, अपने अर्थ को समझाते हैं।

वृक्ष की टहनियों की गति को देखकर, हम जान लेते हैं कि वायु, किस दिशा में, और कितने वेग से चल रही है।

(२) वह चिह्न जो समानता के कारण अपने अर्थ का सुझाव देते हैं।

गौ का चित्र देख कर, हमें गौ का ध्यान आता है।

(३) वह चिह्न जिन्हें व्यवहार में विशेष पदार्थों का चिह्न स्वीकार कर लिया गया है।

शब्दों की बहु संख्या ऐसे चिह्नों में आती है। आम और अंगूर दो भिन्न फलों के नाम हैं। यह आवश्यक नहीं कि यह नाम फलों को, और इन फलों को ही, दिये जाते, दूसरी भाषाओं में इनके अन्य नाम हैं।

### ४. ज्ञान प्राप्त कैसे होता है ?

ज्ञान से सत्य-ज्ञान अभिप्रेत है।

आरंभ से ही विवाद इन्द्रियों और बुद्धि में है। कुछ लोग कहते हैं कि हमारे सारे ज्ञान की नींव इन्द्रिय-जन्य बोध पर है; और यही बोध अन्त में सत्यासत्य की कसौटी है। जो विचार परीक्षण की परख पर ठीक नहीं उतरता, उसकी कोई कीमत नहीं। वैज्ञानिक मनोवृत्ति का तत्व 'तथ्य' की प्रमुखता के सामने सिर नवाना है। इसके विपरीत, कुछ लोग कहते हैं कि बुद्धि के प्रयोग से ही हम सत्य-ज्ञान को प्राप्त कर सकते हैं। अफलातूं ने ज्ञान के तीन स्तरों की ओर संकेत किया है। जो कुछ मुझे मेरी इन्द्रियां बताती हैं, वह उस बोध से, जो अन्य मनुष्य अपनी इन्द्रियों से प्राप्त

करते हैं, भिन्न होता है। ऐसा ज्ञान प्रत्येक की निजी सम्मति का पद ही रखता है। इस बोध से ऊंचे स्तर पर वह ज्ञान है, जिसमें युक्ति का प्रयोग होता है। ऐसे ज्ञान का विषय भी विशेष वस्तु या स्थिति होती है, परन्तु बुद्धि का प्रयोग इसे निजी सम्मति से ऊपर उठा देता है। जब हम जल का विश्लेषण करके कहते हैं कि इसमें हाइड्रोजन और आक्सिजन सम्मिलित हैं, तो यह कथन हमारी वैयक्तिक सम्मति ही नहीं होता; हम समझते हैं कि जो कोई भी जल का विश्लेषण करेगा, इसी परिणाम पर पहुंचेगा। सबसे ऊंचे स्तर का ज्ञान मौलिक तत्व या तत्वों का ज्ञान है। यहां हम अनादि प्रत्ययों का दर्शन करते हैं। यह दर्शन-शास्त्र है। अफलातूं की राय में, 'जीवन का मुकुट ज्ञान है, और ज्ञान का मुकुट तत्व-ज्ञान है।'

इंग्लैंड के प्रमुख विचारकों ने कहा कि हमारा सारा ज्ञान बाहर से प्राप्त होता है, और इन्द्रियां उसका एकमात्र मौलिक साधन हैं। उन्होंने बलपूर्वक 'अनुभववाद' का समर्थन किया। अनुभववाद के विरुद्ध 'विवेकवाद' ने कहा कि सारा ज्ञान मनन का फल है। लाइबनिज के विचारानुसार, एक मन किसी अन्य मन की बाबत न कुछ जान सकता है, न उसे कुछ बता सकता है; प्रत्येक के ज्ञान का स्रोत उसके अन्दर है। हमारा सारा ज्ञान आत्म-ज्ञान ही है। इन दोनों धारणाओं में सत्य का अंश है, परन्तु इसके साथ असत्य का अंश भी मिला है। जर्मनी के दार्शनिक कांट ने इन दोनों विरोधी विचारों का समन्वय किया, और कहा कि हमें ज्ञान की सामग्री बाहर से प्राप्त होती है, और हमारा मन उस सामग्री को विशेष आकृति देकर, उसे ज्ञान बना देता है। ईंट, पत्थर, चूना, लोहा, लकड़ी आप ही भवन तैयार नहीं कर सकते। दूसरी ओर कोई यन्त्रकार सामग्री के बिना, छोटे से छोटा झोपड़ा खड़ा नहीं कर सकता। कांट के विचार में ज्ञान-भवन की स्थिति भी ऐसी ही है: इन्द्रियां सामग्री देती हैं; मन उस सामग्री को भवन का रूप देता है। कांट का मत 'आलोचनवाद' कहलाता है।

इन तीनों मतों के भेद को समझने के लिए, हम बेकन की एक दीप्तिमान उपमा को लेते हैं। बेकन कहता है कि कुछ मनुष्यों की वृत्ति चींटी की वृत्ति होती है; वे अपने लिए सामग्री को इकट्ठा करते रहते हैं। कुछ अन्य मनुष्यों की वृत्ति मकड़ी की वृत्ति होती है; वे अपने अन्दर से ही सामग्री निकाल कर जाला बुनते हैं। कुछ लोग मधुमक्खी की भांति सामग्री अनेक फूलों से लेते हैं, और उसे अपनी क्रिया से शहद का रूप दे देते हैं। 'अनुभववाद' मन को चींटी के रूप में देखता है; 'विवेकवाद' इसे मकड़ी के रूप में देखता है; कांट का 'आलोचनवाद' इसे शहद की मक्खी के रूप में देखता है।

### ५. सत्य का स्वरूप

तत्व-ज्ञान का उद्देश्य सत्ता के सत्य-स्वरूप को जानना है। 'न्याय' और 'ज्ञान-मीमांसा' बताते हैं कि सत्य क्या है।

मैं कहता हूं—'मैं इस समय शोक-ग्रस्त हूं।' यदि वास्तव में मेरी अनुभूति शोक की है, तो मैं सत्य कहता हूं। यह कहना निरर्थक है कि मेरा मन शोक-ग्रस्त है नहीं, मुझे यों ही भासता है। भाव का तत्व अनुभूत होने में ही है।

मैं कहता हूं—'मेरे निकट कुर्सी पड़ी है।' मेरा साथी कहता है—'कुर्सी पड़ी नहीं, बकरी बंधी है।' यह दोनों कथन एक साथ सत्य नहीं हो सकते। यह कैसे जानें कि इन दोनों में कौन कथन सत्य है? या इनमें कोई भी सत्य है, या नहीं? साधारण मनुष्य भी कहेगा कि यदि बाह्य पदार्थ वास्तव में कुर्सी है, तो मेरा कथन सत्य है; बकरी या कोई अन्य पदार्थ है, तो सत्य नहीं। इस विचार को 'यथार्थवाद' कहते हैं। इसके अनुसार, यदि मेरा विचार बाह्य पदार्थ का अनुरूपक (ठीक नकल) है, तो मेरा बोध सत्य-ज्ञान है; यदि उसका अनुरूपक नहीं, तो मिथ्या-ज्ञान है। यह समाधान बहुत सरल प्रतीत होता है, परन्तु इसमें एक कठिनाई है। मैं कुर्सी को स्पष्ट देखता हूं, या मेरा ज्ञान मेरे अनुभवों का बोध ही है? दार्शनिकों का ख्याल प्रायः यह है कि पदार्थों की प्रतिमूर्तियां हमारे मन में प्रस्तुत होती हैं; हमारा मन हमारे अन्दर है, और प्राकृत पदार्थ बाहर हैं। इनका सीधा सम्पर्क नहीं होता। यदि ऐसा है, तो प्रश्न यह रह जाता है कि प्रतिमूर्ति कुर्सी की ठीक नकल है, या नहीं। मुझे एक तस्वीर दिखायी जाती है, और पूछा जाता है कि यह तस्वीर अमुक पुरुष की है, या नहीं। मैं कहता हूं, 'मैंने उस पुरुष को देखा नहीं; मैं नहीं कह सकता।' यही स्थिति वर्तमान प्रश्न के सम्बन्ध में है। यदि हम पदार्थों को साक्षात् देखें, तब तो उनके ज्ञान के साथ या असत्य होने का प्रश्न ही नहीं उठता, चूंकि हम केवल उनके अनुरूपक को ही जानते हैं, हमारे लिए यह कहना सम्भव नहीं कि अनुरूपक ठीक नकल है, या नहीं। हमारे ज्ञान में कोई अमानव अंश है ही नहीं; हम अमानवी वस्तुओं के स्वरूप की बाबत कुछ नहीं कह सकते।

यदि हमारा ज्ञान हमारे अनुभवों तक ही सीमित है, तो सत्यासत्य की कसौटी उनमें ही ढूंढ़नी चाहिए। हर्बर्ट स्पेन्सर ने कहा है कि गठन के दृष्टि-कोण से देखें, तो हमारा ज्ञान तीन प्रकार का है। सबसे निचले दर्जे का ज्ञान असम्बद्ध अंशों का समूह होता है। विज्ञान का स्तर ऐसे ज्ञान से ऊंचा है। विज्ञान का काम किसी विशेष क्षेत्र में तथ्यों को गठित करना है। तत्व-ज्ञान समस्त ज्ञान को व्यवस्थित करना चाहता है। जो निर्णय या वाक्य ज्ञान-व्यवस्था में उसका अंग बन सकता है, वह सत्य है;

जो ऐसा अंग नहीं बन सकता, वह असत्य है। व्यवस्था या संगठन का अर्थ ही यह है। एक छोटा सा कांटा मुझे चुभता है, और मुझे व्याकुल कर देता है; मेरे शरीर में कितनी छोटी-बड़ी हड्डियां घुसी हुई हैं, और मुझे पीड़ा नहीं होती। हड्डियां मेरे शरीर का अंग बनी हैं; कांटा ऐसा अंग नहीं बना। यही ज्ञानांशों की बाबत कह सकते हैं। इस विचार को 'अविरोधवाद' या 'अनुकूलतावाद' कहते हैं।

विज्ञान में मत परिवर्तन होता रहता है। इसका कारण क्या है ? कुछ उदाहरण लेकर देखें।

पहिले समझा जाता था कि प्रकाश की किरणें सूर्य से चल कर हमारी आंखों पर आ पड़ती हैं; अब समझा जाता है कि आकाश में तरंगें उठती हैं, और उनकी क्रिया के फलस्वरूप हम देखते हैं। पहिले समझा जाता था कि पृथिवी स्थिर है, और सूर्य इसके गिर्द घुमता है; अब समझा जाता है कि पृथिवी सूर्य के गिर्द घूमती है। आइन्स्टाइन के विचारों ने न्यूटन की भौतिक विद्या को पुरानी बना दिया है। प्रत्येक हालत में कुछ ऐसे तथ्य दृष्टि में आ जाते हैं; जिनकी मौजूदगी में पुराना विचार ज्ञान-व्यवस्था का विरोधी दिखायी देता है, और उसे छोड़ दिया जाता है। जब तक हम स्वप्न की अवस्था में रहते हैं, हमें उसमें कोई आन्तरिक विरोध दिखायी नहीं देता। जागरण के साथ इसका विरोध होता है, और इस विरोध के कारण हम स्वप्न को माया कहते हैं। स्वप्न की अवस्था में, हमें स्वप्न निर्विरोध प्रतीत होता है।

सत्य के स्वरूप की बाबत एक तीसरा विचार मानसिक अवस्थाओं की दुनिया से निकल कर बाहर आता है, और क्रिया को इस विवाद में प्रमुख स्थान देता है। इस मन्तव्य का जन्म अमेरिका में हुआ, और वहीं इसका विकास हुआ। चार्ल्स पीअर्स (१८३९-१९१४) ने इसके लिए 'प्रैग्मेटिस्म' का नाम चुना। विलियम जेम्स (१८४१-१९१०) ने इसे सर्वप्रिय बनाया। जेम्स के अनुयायियों ने, जिनमें ड्युई का नाम सबसे अधिक प्रसिद्ध है, इसका और प्रसार किया। पीअर्स वैज्ञानिक था; जेम्स मनोवैज्ञानिक था। दोनों के सिद्धान्त में कुछ भेद हो गया। अपने विख्यात रूप में, 'प्रैग्मेटिस्म' जेम्स का ही सिद्धान्त है। हम इसे 'व्यवहारवाद' का नाम दे सकते हैं।

हमें सन्देह होता है कि एक बाह्य पदार्थ मनुष्य है, या वृक्ष का तना है। जेम्स कहता है कि इसका निर्णय करने का सरल तरीका है। देखो कि वह पदार्थ तुम पर क्या क्रिया करता है, और तुम उस पर क्या प्रतिक्रिया करते हो। यदि वह मनुष्य है, तो तुम्हारे प्रश्न का उत्तर देगा; अपने स्थान से चल देगा; उस पर पत्थर फेंकोगे, तो चिल्ला उठेगा। वृक्ष का व्यवहार इससे भिन्न होगा। उसके टुकड़े को काट कर,

खाना पकाने के लिए बरतोगे, तो भी आपत्ति नहीं करेगा। जेम्स का विख्यात सूत्र यह है :—'जो कुछ व्यवहार में पूरा उतरता है, वह सत्य है; जो इसमें पूरा नहीं उतरता, वह असत्य है।'

जेम्स ने बुद्धि के महत्व को कुछ कम किया। जहां बुद्धि किसी धारणा को प्रमाणित कर सकती है, वहां बुद्धि का अधिकार है। विज्ञान में इसका अधिकार है, परन्तु हमारे जीवन में कुछ विश्वास ऐसे भी होते हैं, जिनकी बाबत बुद्धि निश्चय से हमें नहीं बता सकती। ऐसे विश्वास प्रायः धर्म और नीति से सम्बन्ध रखते हैं। इनकी ओर हमारी वृत्ति क्या होनी चाहिए? डेकार्ट ने कहा था कि जिस विश्वास को बुद्धि का पूर्ण समर्थन प्राप्त नहीं, वह स्वीकृति के योग्य नहीं। यही दार्शनिकों में प्रायः मान्य विचार है। जेम्स इसके प्रतिकूल कहता है कि ऐसी अवस्था में भाव की ओर देखना चाहिए। किसी विशेष धारणा का मानना अधिक सन्तोष देता है, या इसका न मानना? आत्मा अमर है, या नहीं? बुद्धि इस प्रश्न का असन्दिग्ध उत्तर दे सके, तो अच्छा; न दे सके तो भाव से पूछना चाहिए। यदि आत्मा को अमर मानने में शान्ति मिलती है, तो यह विश्वास मान्य है; इससे अशान्त होते हों, तो अमान्य है। हमें भाव की सहायता के लिए, संकल्प का प्रयोग करना चाहिए। जहां बुद्धि काम नहीं देती, वहां संकल्प विश्वास को दृढ़ करे।

जेम्स मनोवैज्ञानिक था। वह चिन्तन के साथ, भाव और कृति को भी महत्व देता था। पीअर्स वैज्ञानिक और दार्शनिक था; वह यह समझ ही न सकता था कि सत्यासत्य का निर्णय करने में, भाव और संकल्प का दखल हो सकता है। जब उसने जेम्स की पुस्तक 'प्रैग्मेटिस्म' पढ़ी, तो जेम्स को लिखा—'अधिक यथार्थता के साथ विचार करने की विधि सीखने का यत्न करो।'

नीति में एक सिद्धान्त यह है कि जो कर्म लाभदायक है, वह शुभ कर्म है। इसे 'उपयोगितावाद' कहते हैं। ज्ञान-मीमांसा में, 'व्यवहारवाद' उपयोगितावाद ही है। पीअर्स ने अपने पत्र के अन्त में लिखा—'यदि उपयोगिता एक व्यक्ति तक सीमित हो, तो इसका मूल्य क्या है? मूल्य सार्वजनिक है।'

पीअर्स ने कहा था—'मेरे' अनुभव नहीं, 'हमारे' अनुभव का ध्यान करना चाहिए। मैं आत्मा को अमर मानता हूं, क्योंकि मुझे इस विश्वास से शान्ति मिलती है। मेरे पड़ोसी के लिए यह विश्वास अमान्य है, क्योंकि उसे कभी समाप्त न होने वाला जीवन व्याकुल करता है। 'व्यवहारवाद' के अनुसार मुझे इसे मानना चाहिए; मेरे पड़ोसी को नहीं मानना चाहिए। यह स्थिति तो सत्य को हंसी का विषय बनाती है।

'सत्य सार्वजनिक है।'

६. ज्ञान की सीमाएं

अन्त में हमें देखना है कि हमारा ज्ञान सीमित है, या कोई सत्ता भी इसकी पहुंच से बाहर नहीं।

तत्व-ज्ञान समस्त सत्ता को अपने विवेचन का विषय बनाता है, और इसी आशा से चलता है कि जो कुछ है, जाना जा सकता है। ज्यों-ज्यों विवेचन बढ़ता है, मतभेद व्यक्त होने लगता है। अरस्तू ने तत्व-ज्ञान का लक्षण करते हुए, सत्ता और इसके प्रकटनों—दोनों को इसका विषय बताया था। उसके पीछे आने वाले दार्शनिकों ने सत्ता को ही इसका विषय समझा। नवीन काल में, कांट ने कहा कि सत्ता का अस्तित्व मानने में तो हम विवश हैं, परन्तु इसके स्वरूप की बाबत कुछ जान नहीं सकते, हमारा ज्ञान प्रकटनों से परे नहीं जाता।

इन सीमाओं में भी सारे मीमांसक एक मत के नहीं। एक ओर कुछ नवीन 'वस्तुवादी' हैं, जो कहते हैं कि कोई सांझी और स्थायी दुनिया है ही नहीं : प्रत्येक मनुष्य को जो कुछ प्रतीत होता है, वह उसके लिए निर्भ्रान्त है। दूसरी ओर विचारकों की बहुसंख्या है, जो स्थायी और सांझी दुनिया के अस्तित्व में विश्वास करते हैं, परन्तु यह नहीं कहते कि हम इस दुनिया को इसके असली रूप में देख सकते हैं। सन्देहवादी कहते हैं कि हमारे लिए किसी प्रकार के सत्य-ज्ञान की सम्भावना ही नहीं। चूंकि प्रत्येक तथ्य की बाबत सन्देह हो सकता है, कोई धारणा भी कट्टर सिद्धान्त के रूप में पेश नहीं करनी चाहिए। सन्देहवाद विचार के कमजोर पहलू पर बहुत जोर देता है : चूंकि हर एक धारणा में सन्देह का अंश हो सकता है, इसलिए सारा ज्ञान अविश्वास का प्रश्न है।

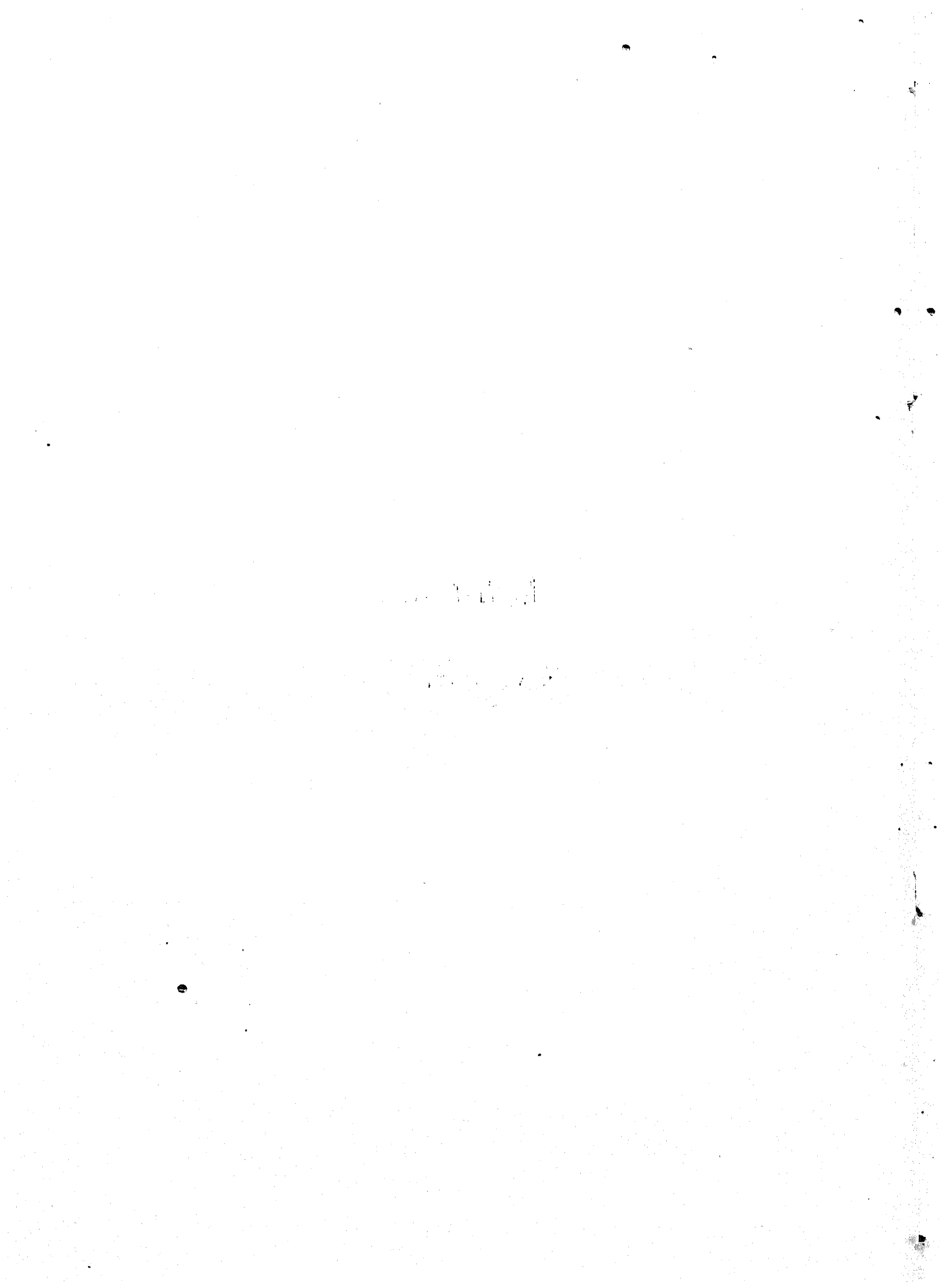
मैं अपनी आंखों पर भरोसा करता हूं। ऐसा करने से ठोकरों से बचता हूं, पुस्तकों का पाठ करता हूं, दैनिक व्यवहार चलाता हूं। कभी-कभी आंख धोखा भी देती है; परन्तु ऐसा सौ में एक बार होता है। इस धोखे की सम्भावना मुझे आंखों के प्रयोग से रोकती नहीं। हमारा ज्ञान एक जंजीर नहीं, जिसकी दृढ़ता उसकी सबसे कमजोर कड़ी की दृढ़ता है। जैसा पीअर्स ने कहा, यह एक रस्से के समान है, जिसके तार अकेले-अकेले निर्बल हैं, परन्तु मिल कर एक पुष्ट रस्सा बना देते हैं। हमारा अनुभव अपनी समग्रता में, विश्वास का पात्र है, यद्यपि हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि इसके किसी अंश में भी भ्रम की सम्भावना है। पीअर्स ने कहा था : " 'मेरा' अनुभव नहीं, 'हमारा' अनुभव विचार करने की चीज है।" उसके आशय को प्रकट करने के लिए हम यह भी कह सकते हैं—'अनुभव का कोई अंश नहीं, अपितु समग्र अनुभव विचार करने की चीज है।'

हम किस परिणाम पर पहुंचे हैं ?

एक चित्रकार आगरा के 'ताज' को देखने जाता है, और उसकी तस्वीरें लेता है। प्रत्येक तस्वीर किसी विशेष स्थान से ली गयी है, और इसलिए 'ताज' के एक भाग को ही दिखा सकती है : समग्र 'ताज' को नहीं दिखा सकती। यदि हम इस पहलू पर ही बल दें, तो कहना पड़ता है कि हम सारे 'ताज' को कदापि देख नहीं सकते। यह ठीक है; परन्तु यह भी ठीक है कि विविध दृष्टि-कोणों से ली गयी तस्वीरें एक दूसरे की त्रुटि को दूर करने में सहायक होती हैं। कितने दृष्टि-कोणों से तस्वीर ली जा सकती है ? इनका तो कोई अन्त नहीं। इसका अर्थ यह है कि सिद्धान्त की दृष्टि में, 'ताज' का सम्पूर्ण ज्ञान सम्भव ही नहीं। जो कुछ हम देख सकते हैं, किसी विशेष दृष्टि-कोण से ही देखते हैं, और इसलिए हमारा ज्ञान अपूर्ण ज्ञान है। जो कुछ 'ताज' की बाबत ठीक है, वही सत्ता की बाबत भी ठीक है। हम अपने विवेचन में, दृष्टि-कोण की विशेषता से ऊपर नहीं उठ सकते; परन्तु सत्ता को अनेक दृष्टि-कोणों से देख सकते हैं, और एक दूसरे के अनुभव में शरीक हो सकते हैं। सम्पूर्णता का ज्ञान, या किसी भाग का सम्पूर्ण ज्ञान, हमारी पहुंच में नहीं; परन्तु यह सम्भव है कि हम इस आदर्श की ओर लगातार बढ़ते जायं।

## द्वितीय भाग

# सत्-विवेचन



# परतम जातियां

## १. व्यवस्था

जीवन के प्रत्येक अंश में व्यवस्था की आवश्यकता होती है। जब हम कुछ करना चाहते हैं, तो हमारे यत्न का कुछ न कुछ फल निकलता ही है; परन्तु जहां नियम वा व्यवस्था का अभाव हो, या ये पर्याप्त मात्रा में विद्यमान न हों, वहां प्रयत्न का बड़ा भाग निष्फल जाता है। किसी कालेज में १००० विद्यार्थी पढ़ते हों, तो उन्हें उनकी योग्यता, रुचि और आवश्यकता के अनुसार कक्षाओं में बांटा जाता है। कालेज के पुस्तकालय में १५,००० पुस्तकें हों, और उनको उचित वर्गीकरण करके, क्रम से रखा जाय, तो जिस पुस्तक की आवश्यकता हो, वह दो मिनटों में मिल सकती है। समाज और राष्ट्र में भी क्रम के अनुसार काम करने से यत्न विफल नहीं जाता।

तत्व-ज्ञान का विषय बहुत विशाल है। तथ्य यह है कि इसके अध्ययन-क्षेत्र के बाहर कुछ है ही नहीं। हमारा ज्ञान तीन प्रकार का होता है। सबसे निचले स्तर पर विशेष घटनाओं का ज्ञान है। जो कुछ हम जानते हैं, उसके भागों में हम कोई आन्तरिक सम्बन्ध नहीं देखते। विज्ञान में ऐसा सम्बन्ध दिखायी देता है। विज्ञान का काम अनेक घटनाओं को समानता की नींव पर श्रृंखलित करना है। विज्ञान की हर एक शाखा अपने लिए क्षेत्र निश्चित करती है। सबसे ऊंचे स्तर पर ज्ञान में यह परिमिति नहीं होती। ऐसा ज्ञान तत्व-ज्ञान है। जो सम्बन्ध विज्ञान को विशेष घटनाओं के ज्ञान से है, वही सम्बन्ध तत्व-ज्ञान को विज्ञान की विविध शाखाओं से है। इस सम्बन्ध को प्रकट करने के लिए, हर्बर्ट स्पेन्सर ने साधारण ज्ञान, विज्ञान और तत्व-ज्ञान को 'अगठित ज्ञान', 'अपूर्ण-गठित ज्ञान' और 'पूर्ण गठित ज्ञान' का नाम दिया है।

## २. तत्व-ज्ञान और व्यवस्था

तत्व-ज्ञान विश्व को अपने अध्ययन का विषय बनाता है। यह किसी देश की नदियों, उसके पर्वतों, उसके वासियों के रिवाज आदि की बाबत खोज नहीं करता; केवल सामान्य नियमों की बाबत जानना चाहता है।

जब हम वाह्य जगत की ओर देखते हैं, तो हम अपने आपको निस्सीम नानात्व से घिरा पाते हैं। एक बात से ढारस बंधता है, और वह यह कि इस नानात्व के साथ समानता भी विद्यमान है। समानता के आधार पर हम व्यक्तियों को वर्गों या जातियों में संग्रह करते हैं; इस ख्याल से कि जो कुछ एक की बाबत जानेंगे, वही वर्ग में सम्मिलित अन्य व्यक्तियों की बाबत भी समझ लेंगे।

इस वर्गीकरण की नींव समानता पर होती है। प्रत्येक वस्तु में अनेक गुण पाये जाते हैं; इसलिए वह कई भिन्न वर्गों में सम्मिलित हो सकती है। कौवा पक्षी है; सारे कौवे पक्षी-वर्ग के अन्तर्गत आते हैं। सारे पक्षी प्राणी हैं। इस तरह पक्षी कौवों की अपेक्षा जाति हैं, और प्राणियों की अपेक्षा उप-जाति हैं। हम ऊपर जाते-जाते ऐसी जातियों तक पहुंचना चाहते हैं, जो स्वयं किसी अन्य जाति की उप-जातियां नहीं। वह सब सत् के भाग तो हैं, परन्तु उनमें ऐसी कोई समानता न हो, जिसके आधार पर उन्हें अपने से ऊंची जाति में रख सकें। ऐसी जातियों को 'परतम जातियां' या 'परतम वर्ग' कहते हैं।

अपने अध्ययन-विषय को व्यवस्थित करने के लिए, तत्व-ज्ञान परतम जातियों को निश्चित करने का यत्न करता है।

## ३. परतम जातियों की सूची

**अफलातूं**

ऐसी सूची के तैयार करने का ध्यान पश्चिम में पहिले-पहल यूनानियों को आया। कहते हैं सबसे पहिले आर्काइटस ने दस परतम जातियों की सूची तैयार की। आर्का-इटस से यह विचार अफलातूं तक पहुंचा। उसने पांच परतम जातियों को स्वीकार किया। वे पांच जातियां ये हैं :—

(१) द्रव्य, (२) अनन्यत्व, (३) विभिन्नता, (४) गति, (५) अगति।

द्रव्य सत् का ऐसा भाग है, जो अपने अस्तित्व के लिए किसी अन्य भाग पर निर्भर नहीं। कुछ विचारक कहते हैं कि इन अर्थों में तो केवल एक ही द्रव्य हो सकता है, और वह समस्त सत् है। कुछ लोग पुरुष और प्रकृति को दो द्रव्य बताते हैं। कुछ इससे आगे जाते हैं, और प्रत्येक जीव और प्रत्येक प्राकृत पदार्थ को द्रव्य का पद देते हैं। इन भेदों की बाबत आगे पर्याप्त वर्णन मिलेगा।

'प्रत्येक पदार्थ', 'प्रत्येक जीव'। यह प्रत्येकपन क्या है? जब हम किसी वस्तु को 'यह' या 'वह' कह कर उसकी ओर संकेत करते हैं, तो उसे 'स्वत्व' या 'अनन्यत्व' देते हैं। 'घोड़ा घोड़ा है'; 'रामगोपाल रामगोपाल है'। प्रत्येक वस्तु का अपना-पन

है। यह स्वत्व उन गुणों से जाना जाता है, जो इकट्ठे पाये जाते हैं, और उस वस्तु के गुण कहलाते हैं। इस वस्तु में तो यह गुण-समूह विद्यमान है, परन्तु यह भी होता है कि किसी अन्य समूह में यह सब मौजूद न हों, और इनके अतिरिक्त भी कुछ गुण मौजूद हों। विश्व में 'विभिन्नता' भी मौजूद है। यहां तक हमनें विश्व का स्थिर कटाव देखा है; परन्तु परिवर्तन भी विद्यमान है। जब कोई द्रव्य स्थान परिवर्तन करता है, तो इस परिवर्तन को 'गति' कहते हैं। परिवर्तन का अर्थ एक अवस्था का समाप्त होना, और उसके स्थान में दूसरी अवस्था का प्रकट होना है। यह दोनों अवस्थाएं गति की अपेक्षा 'अगति' हैं। संकुचित अर्थों में गति और अगति देश-परिवर्तन और देश-अपरिवर्तन के तुल्यार्थ समझे जाते हैं; परन्तु कई विचारक इन्हें विस्तृत अर्थों में भी लेते हैं, और गति को परिवर्तन और अगति को स्थिरता का पर्यायवाची समझते हैं।

**अरस्तू**

अरस्तू ने दस परतम जातियों की सूची दी है :—

द्रव्य,

गुण, परिमाण (मात्रा),

सम्बन्ध,

क्रिया, आक्रान्तता,

देश, काल,

स्वामित्व, स्थिति।

वास्तव में, इस सूची में द्रव्य के अतिरिक्त शेष सभी गुण ही हैं, जो द्रव्य में पाये जाते हैं; और इस तरह यह सूची द्रव्य और गुण में परिणत हो जाती है। द्रव्य एक तात्विक प्रत्यय है। अरस्तू ने इसे न्याय के 'उद्देश्य' से भिन्न नहीं समझा। वह द्रव्य और गुण की बाबत नहीं, अपितु 'उद्देश्य' और 'विधेय' की बाबत सोच रहा है। द्रव्य वाक्य में उद्देश्य ही होता है, विधेय नहीं होता। अरस्तू हमें यह बता रहा है कि वाक्य में किसी उद्देश्य की बाबत हम क्या कह सकते हैं। निम्न वाक्य को लें :—

रामलाल

६ फुट ऊंचा, स्वस्थ युवक,

नारायण का पुत्र,

अपने कमरे में,

आराम कुर्सी पर लेटा हुआ,

कैंची से,

कागज कतर रहा है।

इस वाक्य में अरस्तू के बयान किये हुए सारे गुण रामलाल के सम्बन्ध में वर्णित हो जाते हैं।

तात्विक दृष्टिकोण से अरस्तू की सूची को अब कोई महत्व नहीं दिया जाता।

**कांट**

अफलातूं और अरस्तू का उद्देश्य तत्व की बाबत खोज करना था। यह तत्व-ज्ञान का प्रमुख विषय है। कांट ने तत्व-ज्ञान के स्थान में ज्ञान को प्रमुख बना दिया। उसके लिए प्रमुख प्रश्न यह नहीं कि तत्व किन रूपों में प्रकट होता है, अपितु यह कि स्वयं ज्ञान की बनावट कैसी है; यह नहीं कि ज्ञान का विषय क्या है, अपितु यह कि ज्ञान का निर्माण कैसे होता है। कांट ने अरस्तू की सूची की आलोचना की और कहा कि (१) यह सूची किसी नियम पर आधारित नहीं; (२) इसमें कुछ जातियां सम्मिलित हैं जिनका वहां होना अनुचित है; (३) कुछ जातियों को छोड़ दिया गया है। यह ठीक भी हो, तो भी कांट की आलोचना में बहुत गुरुत्व नहीं, क्योंकि अरस्तू का दृष्टिकोण ही कांट के दृष्टिकोण से भिन्न था। अरस्तू बाहर देखता था; कांट अपने अन्दर देखता था। अरस्तू तत्व की बाबत सोचता था; कांट ज्ञान की बाबत सोचता है।

कांट ने परतम जातियों की बाबत जो कुछ कहा, उसका सार यह है:—

बाहर से जो सामग्री हमें प्राप्त होती है, उसे हमारा मन देश और काल के सांचों में ढाल कर संवेदन बनाता है। इसके पीछे इन्हें सम्बद्ध करता है। ऐसे सम्बद्ध का फल निर्णय या वाक्य होता है। निर्णय में मन के भागदान को परतम-जाति या 'कैटेगोरी' कहते हैं। कांट ऐसी चार जातियों का वर्णन करता है—'परिमाण', 'गुण', 'सम्बन्ध' और 'विधि'।

पहिली जाति परिमाण है। हम एक, एक से अधिक, या सभी व्यक्तियों की बाबत कहते हैं: जैसे:—

भारत में एक पुरुष राष्ट्रपति है।

भारत में कुछ लोग वकील हैं।

भारत में सभी बालिग नागरिक हैं।

दूसरी जाति गुण है। गुण की दृष्टि से निर्णयों में विधि और निषेध का भेद होता है।

कौवा पक्षी है।

बिल्ली पक्षी नहीं।

कुछ पक्षी काले होते हैं; कुछ काले नहीं होते।

सम्बन्ध भी निर्णय को तीन रूपों में प्रकट करता है :—

घास हरी है (द्रव्य और गुण)।

यदि घी को अग्नि के निकट रखें, तो वह पिघल जाता है (कारण और कार्य)।

रामनाथ निर्धन है, या कंजूस है (एक दूसरे पर आश्रित होना)।

'विधि' वास्तविकता की बाबत नहीं कहती; कहने वाले की मनोवृत्ति की बाबत बताती है।

आज वर्षा हुई है।

कल वर्षा का होना सम्भव है।

इतनी गर्मी में, वर्षा का होना अटल है।

**वैशेषिक दर्शन**

भारत के दर्शन में 'वैशेषिक' ने परतम जातियों पर बहुत विचार किया है। इसमें परतम जाति के लिए 'पदार्थ' शब्द का प्रयोग किया गया है। 'पदार्थ' 'पद' का 'अर्थ' है; यह वह वस्तु है जिसके लिए कोई सार्थक शब्द प्रयुक्त होता है। 'पद' किसी 'प्रत्यय' का प्रकटन है। इस तरह 'पदार्थ' का अर्थ 'चिन्तन का विषय' है। जब हम चिन्तन के अन्तिम विषयों का वर्णन करते हैं, तो परतम जातियों का ही वर्णन करते हैं।

'वैशेषिक' के अनुसार पदार्थ ६ हैं :—

द्रव्य, गुण, कर्म

सामान्य, विशेष,

समवाय।

पहले तीन पदार्थ प्रत्यक्ष के विषय हैं। इनकी सत्ता वस्तुगत है। शेष तीन पदार्थ इन्द्रिय-जन्य ज्ञान के विषय नहीं, अपितु प्रत्ययात्मक वस्तुएं हैं। दोनों त्रयों की बाबत अलग-अलग विचार करें।

तीन वस्तुगत पदार्थों को अफलातूं के परतम वर्गों के साथ देखें।

अफलातूं : द्रव्य, अनन्यत्व, विभिन्नता, गति, अगति।

'वैशेषिक' : द्रव्य, गुण, कर्म।

अफलातूं ने 'गुण' को अपनी सूची में नहीं रखा। जब हम किसी पदार्थ को देखते हैं, तो उसे कैसे पहचानते हैं? उसमें कुछ गुण पाये जाते हैं, जो अन्य किसी वस्तु में भी पाये नहीं जाते। यह गुण उस पदार्थ को उसका स्वत्व देते हैं। किसी अन्य पदार्थ में, किसी भेद के बिना, इन सब गुणों का पाया जाना सम्भव ही नहीं। यह तो अन्य पदार्थों की अन्यता में ही निहित है। हमें दो रुपयों में कोई भेद दिखायी नहीं देता, परन्तु एक मेरे हाथ में है, दूसरा मेरे साथी के हाथ में है; एक की सामग्री दूसरे की सामग्री नहीं; जब तुला एक को तोलती है, तो दूसरे को नहीं तोलती। इस तरह गुण का प्रत्यय अपने साथ अनन्यत्व और विभिन्नता के प्रत्ययों को भी लाता है। दूसरी ओर से देखें, तो इन दोनों प्रत्ययों का 'गुण' के बिना कुछ अर्थ ही नहीं।

'वैशेषिक' ने 'कर्म' के पांच रूप कहे हैं, और वे सब गति के भिन्न रूप हैं। अफलातूं ने 'गति' के 'साथ' अगति को भी जोड़ दिया है। प्राचीन यूनान में गति और अगति विवाद का विषय था। एक दल कहता था कि गति का कोई अस्तित्व नहीं। जब हम कहते हैं कि तीर क से ख तक जा पहुंचा है, तो हमारा अभिप्राय यह होता है कि कुछ समय पहले, यह क पर था, अब ख पर है। इस अन्तर में स्थिति क्या थी? एक समय यह क और ख के बीच ग पर था; इससे पहले यह क और ग के बीच घ पर था। इस तरह, तीर अन्तर में कहीं न कहीं स्थित था। यह स्थिति-स्थान असंख्य हो सकते हैं, परन्तु हैं तो सभी ठिकाने, जहां तीर ठहरा हुआ था। इस दलील के आधार पर कहा जाता था कि गति केवल भास है; इसका वास्तविक अस्तित्व कुछ नहीं। दूसरा दल कहता था कि संसार में सारी वस्तुएं गतिशील हैं। अफलातूं ने गति और अगति दोनों को अपनी सूची में रखा है; 'वैशेषिक' के रचयिता कणाद ने गति को ही लिया है।

इस तरह अफलातूं के वर्ग और कणाद के दृष्ट 'पदार्थ', थोड़े भेद के साथ, एक ही हैं।

द्रव्य का प्रकटन कैसे होता है? जैसा हम आगे देखेंगे, स्पीनोज़ा ने द्रव्य के साथ गुण को जोड़ा; लाइबनिज ने क्रिया को इसका अनिवार्य चिह्न बताया। कणाद के अनुसार, गुण और कर्म दोनों एक दूसरे से भिन्न हैं, और इनमें से किसी को भी छोड़ नहीं सकते।

अब हम प्रत्ययात्मक पदार्थों को लें। इन्हें प्रत्ययात्मक कहने का अर्थ क्या है? हम गौ को देखते हैं; उसके रंग-रूप को देखते हैं। घास चरती, वह इधर-उधर जाती है; उसकी गति को भी देखते हैं। द्रव्य, गुण और कर्म का ज्ञान इन्द्रिय-जन्य ज्ञान है।

हम कहते हैं—'गौ एक प्राणी है।' हमारा अभिप्राय यह होता है कि गौओं का वर्ग प्राणी-वर्ग के अन्तर्गत, उसकी उप-जाति है। गौओं की जाति विशेष गौओं से बनती है। यह विशेष गौएं तो प्रत्यक्ष का विषय हैं, परन्तु यह धारणा कि 'गौ', 'नील गौ' की जाति और 'प्राणी' की उप-जाति है, इन्द्रिय-जन्य ज्ञान नहीं। यह विभाग या वर्गीकरण हमारे मन की क्रिया है। जाति और उप-जाति, उप-जाति और उसे बनाने वाले व्यक्तियों का भेद 'सामान्य' और 'विशेष' का भेद है। 'वैशेषिक' में कहा है कि 'सामान्य और विशेष, ये दोनों, बुद्धि की अपेक्षा से हैं।' (१ : २ : ३)। भारत एक विस्तार है। हम उसे प्रान्तों में बांटते हैं। स्वयं भारत महाद्वीप का भाग है। महाद्वीप को देशों में मनुष्यों ने विभाजित किया है। इसी तरह विश्व में तो अनेक विशेष पदार्थ हैं; उन्हें जातियों और उप-जातियों में देखना मानसिक क्रिया है।

समवाय के सम्बन्ध में 'वैशेषिक' ने बहुत कम कहा है।

" 'इसमें यह है'—जिस सम्बन्ध के कारण, इस प्रकार का ज्ञान कार्य-कारण में होता है, वह 'समवाय' है।"

(७ : २ : २४)

इतना ही निश्चित रूप में 'वैशेषिक' की शिक्षा है। इस सूत्र का अभिप्राय क्या है?

पहली बात तो यह है कि हम यहां एक सम्बन्ध की बाबत वर्णन कर रहे हैं।

दूसरी यह कि यह सम्बन्ध कार्य-कारण सम्बन्ध है।

तीसरी यह कि इस सम्बन्ध का विवरण इन शब्दों में हुआ है—'इसमें यह है।'

अन्तिम वाक्य से प्रतीत होता है कि यहां संस्थान या स्थिति के ख्याल को प्रकट किया गया है। दो विशेष हालतों में यह सम्बन्ध हमारे सम्मुख आता है। हम कहते हैं—'घास हरी है।' हरापन घास में पाया जाता है; यह घास का गुण है। 'इस (घास) में यह (हरापन) है।' द्रव्य और गुण का सम्बन्ध समवाय सम्बन्ध है। दूसरी हालत 'समस्त' और 'मांग' की या 'सामग्री' और 'निर्मित वस्तु' की है। 'समवाय' का अर्थ 'तन्तु-बुनना' है। तन्तुओं को बुनने से वस्त्र बनता है। न्याय की परिभाषा में हम कहते हैं कि तन्तु वस्त्र का 'उपादान कारण' है। वस्त्र तन्तुओं से अतिरिक्त कुछ नहीं, और निरे तन्तु भी नहीं। तन्तु इसलिए नहीं कि तन्तुओं के मौजूद होने पर भी वस्त्र मौजूद न था; तन्तु ही है, क्योंकि इसमें तन्तुओं के अतिरिक्त कुछ दिखायी नहीं देता : हम फिर इसे तन्तुओं में बदल सकते हैं। हम कह सकते हैं कि 'इस (वस्तु) में यह (तन्तु) है।' यह समस्त और उसके भागों का सम्बन्ध है। इन दो अर्थों में व्याख्याकार समवाय को लेते हैं; अधिक संख्या दूसरे अर्थ में होती है।

परन्तु हम यह भी कह सकते हैं कि 'इस (तन्तु) में यह (वस्तु) है।' तन्तुओं में वस्तु छिपा है। तन्तु 'संभावना' या 'शक्यता' है: वस्तु उसकी 'वस्तुता' है। सांख्य दर्शन में, उपादान कारण को ही नहीं, अपितु सारे कारण-कार्य के सम्बन्ध को इस रूप में देखा है—'इस (कारण) में यह (कार्य) विद्यमान है।'

समवाय को किसी रूप में लें, यह 'सम्बन्ध' है। यह एक बन्धन है, जो दो पृथक वस्तुओं को बन्धु बना देता है। ऐसे सम्बन्ध के अभाव में स्थिति क्या होती है? वस्तुएं एक दूसरे के आगे-पीछे, दायें बायें, ऊपर-नीचे, अवकाश में होती हैं; घटनाएं एक दूसरे के साथ, या आगे-पीछे होती हैं। यह 'संयोग' है। इसका इतना ही अर्थ है कि अनेक वस्तुओं के लिए अवकाश में पर्याप्त स्थान है, और अनेक घटनाओं की काल में स्थिति हो सकती है। जब हम सम्बन्ध का जिक्र करते हैं, तो हम कहते हैं कि वस्तुएं और घटनाएं एक दूसरे के साथ बंधी हैं; गठित हैं। बहुत्व या अनेकता के साथ एकता भी मिल गयी है।

तत्व-ज्ञान के इतिहास में 'संयोग' और 'समवाय' का विवाद एक प्रमुख विवाद है। निरे संयोग का बड़ा समर्थक डेविड ह्यूम हुआ है। वह कहता है कि सारी सत्ता प्रकटनों की है, और प्रकटनों में संयोग है, सम्बन्ध नहीं। विज्ञान कारण-कार्य के सम्बन्ध को स्वीकार करता है, और इसका प्रमुख काम इस सम्बन्ध की खोज करना है। वैशेषिक ने 'समवाय' को पदार्थों में स्वीकार किया है; परन्तु यह भी कहा है कि यह सम्बन्ध इन्द्रियों से जाना नहीं जाता। जैसा हम आगे देखेंगे, ह्यूम और उसके साथियों ने इसे गलत स्थान में ढूंढा। इन्द्रियां सम्बन्ध को देख नहीं सकतीं; यह बुद्धि के मनन से जाना जाता है।

# द्रव्य-निरूपण

## महाद्वीप के तत्व-विवेचक

पिछले दो अध्यायों में हमने देखा है कि विचारकों ने सत् को किन मौलिक रूपों में देखा। परतम जातियों की सभी सूचियों में द्रव्य को प्रमुख स्थान दिया गया है। 'वैशेषिक' के अनुसार द्रव्य, गुण और कर्म ही तीन दृष्ट परतम जातियां हैं, और इन में गुण और कर्म दोनों द्रव्य पर आलम्बित हैं। वर्तमान अध्याय में द्रव्य की रूप-रेखा पर कुछ कहेंगे। पश्चिम में नवीन दार्शनिक विवेचन में द्रव्य-निरूपण एक प्रमुख विषय बना रहा है। इस सम्बन्ध में डेकार्ट, मेलब्रांश, स्पीनोजा और लाइबनिज के नाम विशेष रूप में प्रसिद्ध हैं। इन्हें इसी क्रम में लेंगे।

## १. डेकार्ट का द्वैत

दार्शनिक विवेचन में नवीन युग का आरम्भ फ्रांस के प्रसिद्ध स्वतन्त्र विचारक रेने डेकार्ट (१५९६-१६५०) से होता है। डेकार्ट की अपनी शिक्षा में गणित और ज्योतिष प्रधान विषय थे। जब दर्शन की ओर उसकी रुचि हुई, तो उसने गणित और दर्शन में एक आश्चर्यजनक असमानता को देखा। जहां गणित में निश्चित और असन्दिग्ध उत्तर मिलते हैं, वहां दर्शन में कोई ऐसे उत्तर नहीं मिलते; जिस चक्कर में दार्शनिक १,००० वर्ष पहले पड़े थे, उसी में अब पड़े हैं। दर्शन की इस त्रुटि को दूर करने के लिए डेकार्ट ने निश्चय किया कि गणित की विधि को दर्शन में प्रयुक्त करे, जिससे इसमें भी निश्चित और असन्दिग्ध परिणाम मिल सकें।

डेकार्ट ने निश्चय किया कि किसी धारणा को स्वीकार करने से पहले, वह यह देखेगा कि धारणा युक्ति-युक्त है या नहीं। प्रत्येक विश्वास को स्वीकृति के लिए इस कसौटी पर ठीक उतरना होगा। डेकार्ट ने व्यापक सन्देह से आरम्भ किया : बाह्य जगत, परमात्मा और स्वयं अपनी सत्ता में सन्देह किया। तुरन्त ही उसे सूझा कि इन तीनों की सत्ता में सन्देह हो सकता है, किन्तु 'सन्देह' के अस्तित्व में सन्देह करना तो

सम्भव ही नहीं। सन्देह का अस्तित्व उसे सत्ता की अचल चट्टान सा प्रतीत हुआ। सन्देह एक प्रकार की चेतना-अवस्था है; इसलिए चेतना-अवस्था का अस्तित्व भी असन्दिग्ध तथ्य है। चेतना चेतन में ही होती है। इसलिए सन्देह करने वाले का अस्तित्व भी असन्दिग्ध है। डेकार्ट की पहली निश्चित धारणा यह थी : 'मैं चिन्तन करता हूं; इसलिए मैं हूं।'

अब डेकार्ट ने अपने विचारों पर दृष्टि डाली, और उनका परीक्षण आरम्भ किया। अपने प्रत्ययों में उसने एक प्रत्यय 'सम्पूर्णता' का देखा। उसने अपने आपसे पूछा—'इस प्रत्यय की उत्पत्ति कैसे हुई है? मैं तो अपूर्ण हूं और कोई अपूर्ण वस्तु पूर्णता के प्रत्यय को जन्म नहीं दे सकती।' पूर्णता के प्रत्यय ने उसे पूर्ण सत्ता, परमात्मा के अस्तित्व को मानने पर बाधित किया। 'पूर्ण परमात्मा विद्यमान है।' यह डेकार्ट की दूसरी निश्चित धारणा थी।

उसे बाह्य जगत भी सत्य प्रतीत होता था। यह प्रतीति आरम्भिक सन्देह के समय भी विद्यमान थी। अब उसने सोचा कि क्या यह प्रतीति तथ्य की प्रतीक है, या केवल धोखा है? यह प्रतीति धोखा ही हो, तो मानना पड़ेगा कि सत्य-स्वरूप परमात्मा हमें आयु भर इस धोखे में रखता है। हम सम्पूर्ण परमात्मा की बाबत ऐसा ख्याल नहीं कर सकते। तीसरी धारणा जिसे डेकार्ट ने स्वीकार किया, बाह्य जगत वा प्रकृति के अस्तित्व की बाबत थी। इस तरह डेकार्ट अपनी तीन मौलिक धारणाओं पर निम्न क्रम में पहुंचा :—

(१) मैं चिन्तन करता हूं; इसलिए मैं हूं।

(२) मेरे प्रत्ययों में पूर्णता का प्रत्यय विद्यमान है। इसका जन्मदाता पूर्ण परमात्मा भी विद्यमान है।

(३) परमात्मा सत्य-स्वरूप है। उसकी व्यवस्था में, बाह्य जगत की प्रतीति भ्रम नहीं हो सकती। प्रकृति का अस्तित्व असन्दिग्ध तथ्य है।

परमात्मा और जीवात्मा दोनों आत्मा हैं। इसलिए सत् में दो परतम जातियां हैं—आत्मा और प्रकृति। यह डेकार्ट का द्वैत है।

डेकार्ट ने इन दोनों के स्वरूप की बाबत चिन्तन करना आरम्भ किया, और इस परिणाम पर पहुंचा कि :—

(१) आत्मा चेतन है, और विस्तार-रहित है।

(२) प्रकृति अचेतन है, और विस्तार इसका तत्व है। इस तरह, डेकार्ट के दोनों द्रव्य एक दूसरे से इतने भिन्न हो गये कि इनमें किसी प्रकार का सम्बन्ध अचिन्तनीय हो गया। परन्तु सम्बन्ध तो हम देखते ही हैं; डेकार्ट भी देखता था। हमें बाह्य

पदार्थों का ज्ञान होता है। हम अपनी क्रिया से उन पर प्रभाव डालते हैं; वे अपनी क्रिया से हमें प्रभावित करते हैं। यह ज्ञान और क्रिया-प्रतिक्रिया कैसे सम्भव हैं? डेकार्ट ने इस गुत्थी को सुलझाने के लिए इतना ही कहा कि शरीर के पिछले ग्लैंड में आत्मा और प्रकृति का सम्पर्क होता है, और इससे वे एक दूसरे पर क्रिया कर सकते हैं। यह समाधान डेकार्ट को सन्तुष्ट कर सका होगा; किसी अन्य विचारक को सन्तुष्ट नहीं कर सका।

डेकार्ट के सिद्धान्त में दो प्रमुख प्रत्यय थे---द्रव्य और कारण-कार्य सम्बन्ध। उसने व्यापक सन्देह से आरम्भ करके, अपनी, परमात्मा की और प्रकृति की सत्ता को सिद्ध करने का दावा किया था। क्या वह अपने प्रयत्न में सफल हुआ? तनिक विचार करें।

(१) डेकार्ट ने कहा था कि वह, युक्ति के अभाव में, किसी धारणा को स्वीकार नहीं करेगा। बुद्धि के अधिकार को तो मानेगा: अन्य किसी नियम को आरम्भ से फर्ज नहीं करेगा। पहली धारणा में उसने कहा कि सन्देह के अस्तित्व में सन्देह नहीं हो सकता। यह ठीक है। इसके बाद कहा कि सन्देह एक प्रकार की चेतना-अवस्था है। यह भी ठीक है। अब तीसरा पग यह उठाया कि चेतना चेतन के बिना नहीं हो सकती। यदि चेतना को गुण समझा जाय, तो उसने फर्ज कर लिया कि कोई गुण गुणी के बिना हो नहीं सकता। यदि चेतना क्रिया है, तो उसने फर्ज कर लिया कि कोई क्रिया कर्त्ता (द्रव्य) के बिना नहीं हो सकती। ये दोनों धारणाएं सत्य हों, तो भी डेकार्ट तो कह चुका था कि वह किसी धारणा को प्रमाणित किये बिना नहीं मानेगा। यहां उसे किसी प्रकार के प्रमाण की आवश्यकता का ध्यान ही नहीं आया।

(२) डेकार्ट ने परमात्मा की सत्ता को पूर्णता के प्रत्यय पर निर्धारित किया। क्यों? इसलिए कि पूर्णता के प्रत्यय को जन्म देने के लिए पूर्ण द्रव्य की आवश्यकता है। यहां फिर उसने, न जानते हुए, 'पर्याप्त हेतु' के नियम को प्रमाण के बिना स्वीकार कर लिया। वैज्ञानिक मानते हैं कि किसी कार्य की उत्पत्ति के लिए कारण में पर्याप्त योग्यता होनी चाहिए। वैज्ञानिक इसे कारण-कार्य नियम के साथ फर्ज करते हैं; परन्तु डेकार्ट तो अपने आपको किसी धारणा को फर्ज करने के अधिकार से वंचित कर चुका था।

(३) वाह्य जगत के अस्तित्व के पक्ष में डेकार्ट ने कहा कि सत्य-स्वरूप परमात्मा की व्यवस्था में ऐसा भ्रम वा धोखा नहीं हो सकता। भ्रम वा धोखे के अस्तित्व से तो इन्कार हो ही नहीं सकता। भेद इतना ही है कि इस भ्रम की मात्रा कितनी

है। क्या यह जगत के अल्प भागों के सम्बन्ध में ही होता है, या समस्त जगत की प्रतीति के सम्बन्ध में भी हो सकता है ?

डेकार्ट ने जिस व्यापक सन्देह के साथ आरम्भ किया था, वह उसे सदा अपनी दृष्टि में नहीं रख सका। उसके सिद्धान्त के दोनों भागों—द्रव्य में द्वैत और आत्मा और प्रकृति की क्रिया-प्रतिक्रिया—ने ऐसी समस्याएं प्रस्तुत कर दीं, जिन्होंने चिर-काल तक दार्शनिकों को परेशानी में डाल दिया, और वह डेकार्ट की कठिनाइयों का समाधान करने में लगे रहे।

## २. मेलब्रांश

मेलब्रांश (१६३८-१७१५) डेकार्ट के अनुयायियों में प्रमुख था। उसने डेकार्ट के एक और अनुयायी, ग्युलिक्स, के विचारों को स्वीकार किया, और उन्हें कुछ आगे बढ़ाया।

ग्युलिक्स और मेलब्रांश दोनों डेकार्ट के द्वैत को स्वीकार करते थे। दोनों यह भी मानते थे कि आत्मा और प्रकृति के गुण सर्वथा भिन्न हैं। जैसा एक लेखक ने कहा है, 'आत्मा सत् के व्यास के एक किनारे पर स्थित है, और प्रकृति दूसरे किनारे पर है।' इन दोनों के भेद से अधिक भेद का हम चिन्तन ही नहीं कर सकते। यहां तक दोनों डेकार्ट के साथ थे; परन्तु वे डेकार्ट के इस समाधान को स्वीकार नहीं कर सके कि मस्तिष्क के एक भाग में, आत्मा और प्रकृति का सम्पर्क होता है, और वह ज्ञान और क्रिया को जन्म देता है। उन्होंने दोनों द्रव्यों की आपसी क्रिया और प्रतिक्रिया के किसी अन्य सन्तोषजनक समाधान की खोज की और इसे परमात्मा की अपरिमित शक्ति में देखा। अनुभव ने उन्हें बताया कि जब प्रकाश की किरणें हमारी आंख पर पड़ती हैं, तो हम देखते हैं; जब किसी पदार्थ के गिरने से वायुमण्डल में लहरें उत्पन्न हो कर हमारे कान के परदे से टकराती हैं, तो हम सुनते हैं। प्रकृति की घटनाएं हमारी आत्मा पर क्रिया करती हैं, और इसका फल ज्ञान होता है। दूसरी ओर मैं इच्छा करता हूं कि कुछ सैर कर आऊं; और खड़ा हो जाता हूं, हाथ छड़ी पकड़ता है, आंखें मार्ग पर लगती हैं, और टांगें चलती हैं। लिखने का निश्चय करता हूं, तो शरीर में अन्य क्रियाएं होने लगती हैं। यहां आत्मा प्रकृति में परिवर्तन करती है। इस अनुभव की ओर से, ग्युलिक्स और मेलब्रांश आंखें बन्द नहीं कर सकते थे। उनका दार्शनिक विचार आत्मा और प्रकृति जैसे विभिन्न द्रव्यों में कोई सम्बन्ध देख ही नहीं सकता था। उन्होंने कहा कि वास्तव में, ज्ञान और कर्म के रूप में जो कुछ होता है, परमात्मा की क्रिया है। आत्मा और प्रकृति तो केवल अवसर प्रस्तुत करते हैं। जब प्रकाश की किरण मेरी आंख पर पड़ती है, तो परमात्मा मेरी आत्मा में रूप-रंग का ज्ञान

पैदा कर देता है; जब मेरे शरीर में जल की कमी होती है, तो मुझे प्यास का बोध करा देता है। दूसरी ओर जब मैं सैर करना या लिखना चाहता हूं, तो परमात्मा मेरे अंगों में उपयोगी गति पैदा कर देता है। वास्तव में परमात्मा ही अकेला कारण है; आत्मा और प्रकृति तो केवल अवसर प्रस्तुत करते हैं। ग्युलिंक्स और मेलब्रांश के सिद्धान्त को 'अवसर-वाद' का नाम दिया जाता है।

इस समाधान में दो कठिनाइयां आलोचकों को दिखायी दीं :—

(१) मौलिक कठिनाई तो यह थी कि आत्मा और प्रकृति का भेद ऐसा है कि उनमें किसी प्रकार की क्रिया की सम्भावना ही नहीं। परमात्मा भी परम आत्मा सही, आत्मा तो है। उसकी अपरिमित शक्ति से हम यह तो अनुमान कर सकते हैं कि जो कुछ जीवात्मा कठिनाई से करता है, परमात्मा सहज कर लेता है; परन्तु जो असम्भव है, वह तो दोनों के लिए असम्भव है।

(२) 'अवसर-वाद' के उदाहरणों के लिए ऊपर सैर और लिखने के उदाहरण दिये गये हैं। यह दोनों अच्छे काम नहीं, तो निर्दोष काम तो हैं ही, परन्तु जो कुछ होता है, वह सारा अच्छा या निर्दोष कार्य ही नहीं होता। एक पुरुष निश्चय करता है कि अपने पड़ोसी की हत्या करके, उसका माल चुरा ले। वह आप तो कुछ कर नहीं सकता। परमात्मा उसके हाथ में छूरा देता है, उसे पड़ोसी के घर में पहुंचाता है, और शेष जो कुछ भी अनिवार्य है, करा देता है। वह प्रत्येक चोर, डाकू, हत्यारे की कामनाओं को पूरा करने में तत्पर है। सम्भव है पीछे पापी को दण्ड भी दे, परन्तु अपराध करते समय तो पूरा सहयोग देता है।

मेलब्रांश इस सांझी स्थिति से आगे बढ़ा।

मैं इस समय मेज पर पड़े कागज को देख रहा हूं; मेरा साथी पुस्तक पढ़ रहा है। परन्तु हम दोनों का बोध इतनी सीमा में ही बन्द नहीं। हमें यह भी बोध है कि हमारे इर्द-गिर्द अनेक पदार्थ विद्यमान हैं। इस प्रकार का स्थायी बोध हम सबके ज्ञान का भाग है। ऐसा बोध परमात्मा कब हमारी आत्माओं में पैदा करता है? जन्म के थोड़े समय बाद पैदा कर देता है? या प्रतिक्षण इसे पैदा करता रहता है? यह दोनों सम्भावनाएं हैं, परन्तु दार्शनिक और वैज्ञानिक समाधान का स्वीकृत नियम यह है कि यथासम्भव सरलतम समाधान को अंगीकार किया जाय। सरल समाधान यह है कि समस्त चित्र परमात्मा की चेतना में विद्यमान हैं, और प्रत्येक मनुष्य उन्हें वहां देखता है। हम वाह्य पदार्थों को वाह्य जगत में नहीं देखते, न परमात्मा उनके चित्रों को हमारी आत्माओं पर अंकित करता रहता है; अपितु हम उन्हें परमात्मा में, जहां वे सदा मौजूद हैं, देखते हैं।

यह विचार, प्रकृति और आत्मा में कारण-कार्य का सम्बन्ध स्वीकार किये बिना, हमारे ज्ञान का समाधान प्रस्तुत करता है, और समाधान सरल भी है। परन्तु इस समाधान में मिथ्या-ज्ञान की स्थिति क्या है ? मैं कई बार दूर से पानी देखता हूं ; निकट पहुंचने पर पता लगता है कि वहां पानी न था, रेत का विस्तार था। यदि जो कुछ देखते हैं, परमात्मा में ही देखते हैं, तो कहना पड़ेगा कि पहले पानी के चित्र को परमात्मा में देखा, और अब उसी स्थान पर रेत की प्रतीति होती है। इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि पहली हालत में यह तथ्य ही नहीं कि हमने पानी को देखा। देखा तो चमकीले विस्तार को, और पिछले अनुभव की नींव पर अनुमान कर लिया कि वहां पानी है। इस ज्ञान में प्रत्यक्ष का दोष नहीं; अनुमान का दोष है। जो कुछ हम परमात्मा में देखते हैं, वह तो सदा यथार्थ ही होता है ; जो कुछ अपनी ओर से मिला देते हैं, वह अयथार्थ का अंश होता है।

ग्युलिक्स और मेलब्रांश दोनों ने डेकार्ट के मौलिक सिद्धान्त, द्वैत, को स्वीकार करके, उसकी कठिनाइयों को दूर करने का प्रयत्न किया। अब हम जिन विचारकों का वर्णन करेंगे, उन्होंने समझा कि गांठ खुलती तो नहीं, इसे काटना चाहिए। उन्होंने कहा कि सारी खराबी तो मौलिक सिद्धान्त—द्वैत—से पैदा होती है। यह सिद्धान्त ही अमान्य है। इन विचारकों में हम पहले स्पीनोजा को लेते हैं ; इसके बाद लाइ-बनिज को लेंगे।

## ३. स्पीनोजा

स्पीनोजा (१६३२—१६७७) ने अनुभव किया कि डेकार्ट के सिद्धान्त की कठिनाइयों के दूर करने का कारगर उपाय यही है कि उसके द्वैत का परित्याग कर दिया जाय। इसका सहज ढंग तो यही है कि पुरुष और प्रकृति में एक को ही द्रव्य माना जाय, और दूसरे को प्रकटन का पद दिया जाय। जैसा हम आगे देखेंगे, दार्श-निकों ने इसी तरीके को बरता। अद्वैत ने दो रूप ग्रहण किये। एक रूप प्रकृति का था, जिसके अनुसार प्रकृति अपने विकास में, जीवन और चेतना को जन्म देती है ; दूसरा रूप आत्मवाद का था, जिसके अनुसार प्रकृति मानव विचारों वा चित्रों से अलग कोई अस्तित्व नहीं रखती। स्पीनोजा ने अपने लिए इन दोनों मार्गों से पृथक मार्ग चुना। उसने आत्मा और प्रकृति में किसी को प्रथम स्थान नहीं दिया, अपितु दोनों को द्रव्यत्व से वंचित कर दिया।

स्पीनोजा के सिद्धान्त में तीन प्रत्यय प्रमुख हैं—द्रव्य, गुण, आकृति। इस तरह उसने डेकार्ट के 'कार्य-कारण के सम्बन्ध' को, और 'वैशेषिक' के 'कर्म' को छोड़ दिया। इन तीनों प्रत्ययों से स्पीनोजा का अभिप्राय क्या था ?

'द्रव्य' के लिए स्पीनोजा ने 'सब्स्टैन्स' शब्द का प्रयोग किया है। यही शब्द मध्य-काल के दार्शनिक विवेचन में प्रयुक्त होता था, और इसीलिए उसने इसका प्रयोग किया। 'सब्स्टैन्स' का अर्थ 'नीचे खड़ा होने वाला' 'सहारा देने वाला' है। आशय यह है कि 'सब्स्टैन्स' गुणों का सहारा या आलम्बन है। 'सत्' स्पीनोजा के आशय को बेहतर व्यक्त करता है। स्पीनोजा के विचार में, द्रव्य वा सत् के लिए बहुवचन का प्रयोग अनुचित है। सत् एक ही है; और जो कुछ भी है, इसके अन्तर्गत आ जाता है। इस सत् या 'सब्स्टैन्स' को ही स्पीनोजा परमात्मा वा ब्रह्म का नाम देता है। स्पीनोजा के मत में ब्रह्म और ब्रह्माण्ड एक ही है। इस सूत्र के दो अर्थ हो सकते हैं :—

(१) ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं।

(२) ब्रह्माण्ड के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं।

पहले अर्थ के अनुसार, प्राकृत जगत भ्रम मात्र है।

दूसरे अर्थ के अनुसार, प्राकृत जगत के अतिरिक्त परमात्मा का कोई अस्तित्व नहीं। कुछ लोगों ने स्पीनोजा के सूत्र को पहले अर्थ में समझा; परन्तु उसके समय में, और उसके पीछे चिरकाल तक, बहुत लोगों ने उसे प्रकृतिवादी और नास्तिक के रूप में देखा।

सत् वा सब्स्टैन्स' के असंख्य गुण हैं। इनमें से हम केवल दो गुणों की बाबत जानते हैं। ये दो गुण 'चिन्तन' और 'विस्तार' हैं। हमारे ज्ञान के सीमित होने का कारण सम्भवत: यह है कि यही दो गुण हम में पाये जाते हैं।

ये दो गुण असंख्य आकृतियों में व्यक्त होते हैं। सारे चेतन चिन्तन के आकार हैं; सारे प्राकृत पदार्थ विस्तार के आकार हैं। जिस तरह समुद्र के तल पर अगणित तरंगें प्रकट होती हैं, और फिर समुद्र में लिप्त हो जाती हैं, उसी तरह जीवात्मा या मन चिन्तन की अस्थायी आकृतियां हैं, और प्राकृत पदार्थ विस्तार की अस्थायी आकृतियां हैं।

डेकार्ट के लिए, आत्मा और प्रकृति, मन और शरीर, का सम्बन्ध एक समस्या बना हुआ था; वह इन दो द्रव्यों के कारण-कार्य सम्बन्ध को समझ नहीं सकता था। स्पीनोजा के लिए यह कोई प्रश्न ही न था। कारण-कार्य सम्बन्ध द्रव्यों के दर्मियान होता है, और द्वैत को फर्ज करता है। स्पीनोजा ने द्वैत को अस्वीकार किया और कहा कि आत्मा और प्रकृति दो स्वतन्त्र द्रव्य नहीं, अपितु एक ही सत्ता के दो पहलू या पक्ष हैं। जो कुछ एक ओर से चिन्तन दिखायी देता है, वही दूसरी ओर से विस्तार दिखायी देता है। एक ही वक्र रेखा एक ओर से बाहर की ओर फुलाहस दिखायी

देती है, दूसरी ओर से पोली दिखायी देती है। इसी तरह, चिन्तन और विस्तार एक ही सत् के दो पक्ष हैं।

इस धारणा से जो परिणाम निकलते हैं, वह बहुत महत्वपूर्ण हैं।

(१) चिन्तन और विस्तार दोनों एक साथ रहने वाले गुण हैं। जहां कहीं चिन्तन है, वहां विस्तार भी है। ब्रह्माण्ड परमात्मा का शरीर है। नवीन मनोविज्ञान कहता है कि जहां कहीं चेतना है, वहां तन्तुजाल में कोई गति या हरकत भी है। यह स्पीनोजा के विचार की एक गूंज है। दूसरी ओर जहां कहीं विस्तार है, वहां चेतना भी है। इसका अर्थ यह है कि चेतन और अचेतन का भेद जो हम करते हैं, कोई अस्तित्व नहीं रखता। चेतना सारे जगत में, प्रत्येक पदार्थ में, विद्यमान है। भेद एक के अधिक वा न्यून होने का है।

(२) हम कहते हैं, 'प्राकृत जगत में नियम का राज्य है।' स्पीनोजा के विचार में, प्राकृत जगत ही में नहीं, समस्त जगत में नियम का शासन है। हमारा काम इस नियम को समझना और इसे स्वीकार करना है। यह बोध विज्ञान और आत्म-ज्ञान से होता है। यही ब्रह्मज्ञान है। नियम का खुशी से स्वीकार करना ही बुद्धिमत्ता है। यही ईश्वर-प्रेम है। स्पीनोजा ने अपने दार्शनिक विचार अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'नीति' में प्रकट किये हैं। व्यावहारिक नीति का तत्व दो नियमों में आ जाता है :—

(१) 'जो कुछ असंभव है, उसकी कामना न करो।'

(२) 'जो कुछ अटल है, उसे चूं–चरा किये बिना स्वीकार करो।'

(३) ब्रह्म और ब्रह्मांड एक ही हैं। ब्रह्माण्ड में भलाई के साथ बुराई मिलती है ; सौन्दर्य के साथ कुरूपता मिलती है। ये भेद हम मानव दृष्टि-कोण से करते हैं; ब्रह्माण्ड (या ब्रह्म) तो पूर्ण निष्पक्षता से इन सबके लिए स्थिति प्रस्तुत करता है।

(४) जब किसी व्यक्ति का शरीरान्त होता है, तो उसके साथ ही उसके मानसिक जीवन का भी अन्त हो जाता है। साधारण अर्थों में, स्पीनोजा के मत में व्यक्ति के अमरत्व के लिए कोई स्थान नहीं। परन्तु मैं इस समय विद्यमान हूं। स्पीनोजा के सिद्धान्त में, इसका अर्थ यह है कि मैं ब्रह्माण्ड (=ब्रह्म) का अनिवार्य अंश हूं। मेरे बिना ब्रह्माण्ड की स्थिति हो ही नहीं सकती। और जो कुछ मैं कर रहा हूं, वह मेरे साथ समाप्त नहीं हो जायगा, अपितु सदा कायम रहेगा। इन अर्थों में मैं अमर हूं।

## ४. लाइबनिज

लाइबनिज (१६४८—१७१६) भी स्पीनोजा की तरह उच्च कोटि का गणितज्ञ था। स्पीनोजा ने अनेक सीमित और साकार पदार्थों को देखा, और वह

इनसे गुजर कर अनन्त सत् की ओर बढ़ा। लाइबनिज ने विपरीत मार्ग को अंगीकार किया। इसने दृष्ट पदार्थों के विश्लेषण से आरम्भ किया। वह अन्त में ऐसे स्थान पर पहुंचा जहां आगे विश्लेषण की सम्भावना ही नहीं। अन्तिम सीमा को उसने 'बिन्दु' के रूप में देखा। बिन्दु का कोई विस्तार नहीं; इसलिए उसने विस्तार के अस्तित्व से इन्कार किया। विस्तार के अतिरिक्त डेकार्ट और स्पीनोजा ने चेतना को माना था। लाइबनिज ने भी इसे स्वीकार किया, और कहा कि 'बिन्दु' जिन पर हम विश्लेषण के अन्त में पहुंचते हैं, चेतन हैं। यह चेतन या तात्विक बिन्दु ही समस्त सत्ता हैं।

यह बिन्दु अखण्ड हैं; इसलिए नित्य हैं। इनमें परिवर्तन होता है, परन्तु यह परिवर्तन किसी बाहर के प्रभाव से नहीं होता। यह उनके आन्तरिक भाव के कारण होता है। लाइबनिज के शब्दों में 'चेतन' बिन्दुओं में कोई खिड़की नहीं, जिसमें से कुछ बाहर जा सके, या अन्दर आ सके। एक तरह से वे सारे चिद्-बिन्दु स्वतन्त्र विश्व ही हैं।

यदि स्थिति ऐसी है तो संशय पैदा होता है कि हम पदार्थों में जो सम्बन्ध देखते हैं वह कैसे समझा जा सकता है? मुझे अपने साथियों के विचारों का ज्ञान होता है; उन्हें मेरे विचारों का ज्ञान होता है। यदि प्रत्येक चिद्-बिन्दु एक बन्द दुनियां है, तो यह ज्ञान कैसे होता है? लाइबनिज कहता है कि सारा ज्ञान वास्तव में आत्मज्ञान है। प्रत्येक बिन्दु वही देखता है, जो उसके अन्दर होता है। परन्तु इस बिन्दु और कुछ अन्य बिन्दुओं में पूर्व निर्मित ऐसी समानता है कि जो कुछ एक बिन्दु में होता है, वही उन अन्य बिन्दुओं में हो रहा है। लाइबनिज इसे घड़ियों के दृष्टान्त से स्पष्ट करता है। कल्पना करें कि बीस घड़ियां बीस कमरों में दीवारों पर लगी हैं। वह सब बिल्कुल ठीक समय बताती हैं। यह भी कल्पना करें कि घड़ियों को आप भी समय का ज्ञान होता है। जब एक घड़ी जानती है कि उसमें पांच बजे हैं, तो साथ ही यह भी जानती है कि अन्य घड़ियों में भी पांच बजे हैं।

प्रत्येक बिन्दु सारे विश्व का प्रतिनिधि है। वह विश्व का चित्र प्रस्तुत करता है परन्तु अपने दृष्टि-कोण से। दृष्टि-कोणों का भेद बहुत हो, तो विविध चित्र समान नहीं होते। मैं मनुष्यों की मानसिक अवस्था को जानता हूं, मक्खी की मानसिक अवस्था को नहीं जानता। इसका कारण यह है कि जो चेतन-बिन्दु मानव आत्मा हैं, उनके दृष्टि-कोणों और मक्खी के दृष्टि-कोण में बहुत भेद हैं।

सब चेतन-बिन्दुओं की चेतना एक स्तर की चेतना नहीं होती। पेन्सिल भी असंख्य चेतन-बिन्दुओं का समूह है, परन्तु इन बिन्दुओं की चेतना निचले दर्जे की है।

मेरा शरीर भी असंख्य बिन्दुओं का समुदाय है, परन्तु इनके अतिरिक्त एक केन्द्रीय बिन्दु भी विद्यमान है, जो अन्य सारे बिन्दुओं का संगठन करता है, उनमें एकीकरण करता है। हम जो भेद सजीव और अजीव पदार्थों में करते हैं, वह वास्तव में ऐसे एकीकरण करने वाले बिन्दु के भाव या अभाव का ही होता है।

सारे विश्व में भी एक केन्द्रीय बिन्दु है। वह परम आत्मा है। वही अन्य बिन्दुओं में सामंजस्य और अनुकूलता का निर्माण करता है। केवल परमात्मा ही कैवल्य में विद्यमान है। अन्य बिन्दु समूहों में होते हैं। इसका अर्थ यह है कि केवल परमात्मा ही विशुद्ध आत्मा है; अन्य आत्मा शरीर से युक्त हैं। आत्मा और शरीर में किसी प्रकार का कारण-कार्य का सम्बन्ध नहीं। उनकी पूर्व-निर्मित अनुकूलता के कारण ऐसे सम्बन्ध का भास होता है। मन का कार्य ऐसे चलता है, जैसे वह शरीर के अभाव में चलता। शरीर का कार्य ऐसे चलता है, जैसे वह मन के अभाव में चलता। परन्तु दोनों का काम ऐसे चलता है, मानों उनमें निरन्तर क्रिया और प्रतिक्रिया हो रही है।

डेकार्ट ने द्वैत को माना था; स्पीनोजा ने अद्वैत को माना; लाइबनिज अनेक-वाद का प्रमुख समर्थक है। इन्होंने तीन वादों को आपस में बांट लिया। तत्वज्ञान में अब भी यही तीन वाद प्रमुख हैं। ये तीनों विविध परिणामों पर पहुंचे, परन्तु तात्विक खोज में इन्होंने एक ही विधि को अपनाया। इन्होंने मनन का सहारा लिया। तीनों का दृष्टि-कोण था :—

'बाहर के पट बन्द कर, अन्दर के पट खोल।'

# अनुभववादियों का आगम-पथ

पिछले अध्याय में जिन दार्शनिकों का वर्णन हुआ है, उन्होंने मनन का आश्रय लिया था, और इसकी सहायता से तत्व के स्वरूप को जानने का यत्न किया था। तत्व-ज्ञान में अभी तक 'तत्व' प्रमुख था। अब हम ऐसे विचारकों की ओर आते हैं, जिन्होंने 'ज्ञान' को प्रमुख स्थान दिया। उनके विचार में तत्व का ज्ञान प्राप्त करने से पहले यह जानने की आवश्यकता है कि ज्ञान प्राप्त कैसे होता है, और इसकी पहुंच कहां तक है। वर्तमान अध्याय में तीन विचारकों के मत का अध्ययन करेंगे। वे तीनों ब्रिटेन के वासी थे, और दैवयोग से एक (लाक) इंग्लैंड में पैदा हुआ, दूसरा (बर्कले) आयलैंड में और तीसरा (ह्यूम) स्काटलैंड में पैदा हुआ। इन तीनों का सिद्धान्त यह था कि हमारा सारा ज्ञान अनुभव पर निर्धारित है। इन्हें उपर्युक्त क्रम में ही लें।

## १. जान लाक

जान लाक (१६३२-१७०४) ने आक्सफोर्ड में उच्च शिक्षा प्राप्त की। राजनीति में पड़ा और गर्मदल में शामिल हो गया। इसके फलस्वरूप उसे देश छोड़कर हालैंड जाना पड़ा। वहीं उसने अपनी प्रमुख पुस्तक 'मानव की बुद्धि' लिखना आरम्भ किया। पुस्तक की रचना की कथा दिलचस्प है। लाक और उसके कुछ साथी एक सराय में चाय-पानी के लिए एकट्ठे हुए। वहां धर्म और नीति के मौलिक नियमों पर बातचीत होने लगी, और इस प्रश्न पर आकर रुक गयी कि मनुष्य व्यापक सत्यों का ज्ञान कैसे प्राप्त करता है। लाक ने इस प्रश्न को अपने अनुसन्धान का विषय बनाने का निश्चय किया।

लाक ने यह देखना चाहा कि हम सत्य को जान कैसे सकते हैं, और हमारे ज्ञान की पहुंच कहां तक होती है। लाक के प्रयत्न ने तात्विक विचारधारा की दिशा को बदल दिया। जिन परिणामों पर वह पहुंचा, उनसे अधिक महत्व की बात यह है कि दार्शनिक विवेचन के लक्ष्य में परिवर्तन हो गया।

195425

अपने विवेचन में लाक ने न पूर्वजों की शरण ली, और न नवीन दार्शनिकों की। उसने अपनी मानसिक अवस्थाओं का ध्यानयुक्त परीक्षण किया, और जो कुछ देखा, उसे सत्य स्वीकार किया। लाक ने अपने अनुसन्धान में क्या देखा ?

लाक की शिक्षा में प्रमुख बातें ये हैं :—

(१) सत् के दो रूप हैं—चेतन पुरुष और अचेतन प्रकृति। पुरुष ज्ञाता है; प्रकृति ज्ञान का विषय है।

(२) हमारा सारा ज्ञान अनुभव से प्राप्त होता है। आत्मा आरम्भ में कोरी तख्ती की तरह होती है। विकसित आत्मा का सारा ज्ञान वह लेख है, जो अनुभव उस पर अंकित करता है। हमारे ज्ञान का कोई भाग ऐसा नहीं, जो प्राप्त नहीं हुआ। अपितु पहले से इसके अन्दर विद्यमान था।

'विवेकवादी' कहते हैं कि हमारा अनुभव तो 'विशेष' तक सीमित होता है, परन्तु इसके अतिरिक्त हम 'सामान्य सत्य' को भी जानते हैं। अनुभव बताता है कि विशेष त्रिकोणों में दो भुजाओं का योग तीसरी भुजा से अधिक होता है; परन्तु हम यह भी जानते हैं कि यह निर्णय सारे त्रिकोणों की बाबत, जिनका हम चिन्तन कर सकते हैं, सत्य है। लाक कहता है कि यह निर्णय सामान्य सत्य नहीं, केवल हमारा विश्वास है, जिसे वास्तविकता कभी झुठला सकती है।

(३) प्रकृति को हम उसके प्रकटनों में देखते हैं। हमारा अनुभव इन्द्रिय-जन्य ज्ञान है, जो पदार्थों के गुणों तक सीमित है। हम यह मानने पर तो बाधित हैं कि गुणों का आश्रय कोई द्रव्य है, परन्तु इससे अधिक द्रव्य के स्वरूप की बाबत कुछ नहीं जानते। हमें बाहर से सरल बोध मिलते हैं; हम उन्हें मिला-जुला कर कुछ मिश्रित प्रत्यय बना लेते हैं। द्रव्य का प्रत्यय भी ऐसे प्रत्ययों में एक है।

(४) प्रकृति में जो गुण अनुभूत होते हैं, वह दो प्रकार के हैं :—

(क) वह गुण जो सारे प्राकृत पदार्थों में पाये जाते हैं, और जो स्थायी हैं।

(ख) वह गुण जो किसी पदार्थ में पाये जाते हैं, और किसी में नहीं पाये जाते, जो एक ही पदार्थ में कभी होते हैं, कभी नहीं होते।

इन दोनों प्रकार के गुणों को 'प्रधान' और 'अप्रधान' गुण कहते हैं।

प्रधान गुण ये हैं :—

अप्रवेश्यता (अभेद्यता), आकृति, विस्तार, गति या अगति।

अप्रवेश्यता का अर्थ यह है कि प्रत्येक पदार्थ किसी विशेष स्थान में स्थित होता है, और सीमित अवकाश पर अपना अधिकार जमा लेता है। उस अवकाश में किसी अन्य पदार्थ को घुसने नहीं देता।

इन गुणों के साथ कुछ अन्य गुण भी पदार्थों में अनुभूत होते हैं। ये रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, और शब्द हैं। ये अप्रधान गुण हैं।

यहां पहुंच कर लाक एक बड़ा पग उठाता है। वह कहता है कि प्रधान गुण तो पदार्थों में पाये जाते हैं, परन्तु अप्रधान गुण कोई अमानवी स्थिति नहीं रखते। रूप, रस, आदि उन अवस्थाओं के नाम हैं, जो वाह्य पदार्थ हमारे मन में पैदा करते हैं। इनका वस्तुगत अस्तित्व नहीं।

सुनसान जंगल में जहां देखने-सुनने वाला कोई न हो, वृक्ष ठोस होंगे, लम्बे, चौड़े और मोटे होंगे, विशेष आकार रखेंगे, स्थिर होंगे या हिलें डुलेंगे; परन्तु वहां हरापन नहीं होगा, कोई ध्वनि नहीं होगी।

डेकार्ट के द्वैतवाद को लाक ने स्वीकार किया, परन्तु अपने सिद्धान्त में कुछ ऐसी बातें भी दाखिल कर दीं, जिन्होंने द्वैतवाद के पक्ष को कमजोर कर दिया, और एक तरह से अद्वैतवाद के लिए द्वार खोल दिया। ये नयी बातें क्या थीं ?

(१) डेकार्ट ने कहा था कि हमें चेतन और अचेतन द्रव्य का असन्दिग्ध ज्ञान है। चेतन के अस्तित्व में तो सन्देह हो ही नहीं सकता; अचेतन प्रकृति के अस्तित्व का प्रत्यय भी पूर्ण रूप में स्पष्ट है। लाक ने कहा कि हम द्रव्य के अस्तित्व को मानने में विवश हैं, परन्तु इसके स्वरूप की बाबत न कुछ जानते हैं, न जान सकते हैं।

(२) डेकार्ट ने सभी गुणों को एक स्तर पर रखा था। लाक ने उनमें प्रधान और अप्रधान का भेद किया, और अप्रधान गुणों को मन की अवस्थाएं बना दिया। इस तरह उसने प्रकृति के क्षेत्र को सीमित और पुरुष के क्षेत्र को विस्तृत बना दिया।

(३) डेकार्ट ने चेतन पुरुष और अचेतन प्रकृति के भेद को निरपेक्ष भेद बताया था; पुरुष में विस्तार नहीं हो सकता, और प्रकृति में चेतना की सम्भावना नहीं। लाक ने कहा कि यदि परमात्मा चाहे तो प्रकृति को भी चेतना दे सकता है। इस विचार ने दोनों के भेद को अनावश्यक बना दिया, द्वैतवाद पर यह भी एक आघात था।

(४) डेकार्ट ने जीवात्मा, परमात्मा, और प्रकृति के अस्तित्व को 'स्पष्ट प्रत्ययों' पर निर्धारित किया था। उसके मतानुसार, जिस प्रत्यय में अस्पष्टता का कोई अंश न हो, वह सत्य का साक्षातकार कराता है। लाक ने इसे स्वीकार नहीं किया, और कहा कि यह सम्भव है कि कोई प्रत्यय पूर्णरूप में स्पष्ट हो, और इस पर भी, सत्यज्ञान देने में असमर्थ हो। इस धारणा ने अनुभववाद में 'अज्ञेयवाद' का बीज बो दिया।

डेकार्ट ने द्रव्य के साथ कारण-कार्य सम्बन्ध को भी महत्व दिया था। लाक को घटनाओं का अनुभव तो होता था, परन्तु कारण-कार्य का सम्बन्ध नहीं दिखायी

देता था: यह सम्बन्ध तो इन्द्रिय-जन्य ज्ञान है ही नहीं। उसने इतना ही कहा कि यदि हम इस सम्बन्ध को फर्ज कर लें, तो विशेष स्थितियों में अनुभव ही हमें बताता है कि किसी कार्य का कारण क्या है। अनुभव यह नहीं बताता कि कार्य बिना कारण के हो नहीं सकता; परन्तु इसे स्वीकार कर लें; तो अनुभव से ही जान सकते हैं कि खाना खाने से भूख मिटती है, और आग पर रखने से पानी उबलता है।

## २. जार्ज बर्कले

लाक के बाद, दूसरा प्रसिद्ध अनुभववादी बर्कले (१६८५-१७५३) है। लाक ने अपने 'निबन्ध' को ३८ वर्ष की आयु में आरम्भ किया, और २० वर्ष पीछे उसे प्रकाशित किया। बर्कले ने अपनी दो प्रमुख पुस्तकें २५ और २६ वर्ष की आयु में लिखीं। वह शीघ्र परिपक्व होने वाले पौदों में से था। लाक के काम पर बर्कले की टिप्पणी इतनी ही थी कि वह चला तो ठीक मार्ग पर, परन्तु थोड़ी दूर चल कर ही ठहर गया। जहां लाक ने छोड़ा था, वहां से बर्कले ने आरम्भ किया। वह लाक की अपेक्षा अधिक दृढ़ अनुभववादी था।

(१) लाक ने कहा था कि हम प्राकृत द्रव्य के गुणों को तो अनुभव करते हैं, परन्तु उस द्रव्य को अनुभव नहीं करते। हम उसको मानने में बाधित हैं, क्योंकि हमारा अनुभव, कार्य होने की स्थिति में, किसी कारण की मांग करता है; और स्वयं हम यह कारण नहीं हैं। मैं अब अपने सामने बरामदे की दीवार और कुछ कुर्सियां देखता हूं; थोड़ी देर हुई, कमरे में पुस्तकें देखता था। दोनों हालतों में मैं निश्चय नहीं करता कि दृष्ट पदार्थ क्या होंगे। मेरा प्रत्यक्ष ज्ञान मुझ पर ठूंसा जाता है। लाक प्राकृत द्रव्य का अस्तित्व मानने में विवश था, परन्तु उस द्रव्य के स्वरूप की बाबत बिलकुल अन्धेरे में था। बर्कले ने कहा कि जब अनुभव को अपना पथ-प्रदर्शक बना लिया है, तो किसी ऐसे द्रव्य को जो अनुभव का विषय हो ही नहीं सकता, मानना व्यर्थ है। हम आत्मा की सत्ता को तो अपनी हालत में जानते ही हैं, क्यों न अपने प्रत्यक्ष ज्ञान को किसी अन्य आत्मा की क्रिया का फल समझ लें? इस ज्ञान के समाधान के लिए, उसने परमात्मा की शरण ली। हमारा प्रत्यक्ष ज्ञान हम पर ठूंसा जाता है। एक अज्ञात और अज्ञेय प्राकृत द्रव्य को मानने के स्थान में एक आत्मा को इसका कारण मानना अधिक सन्तोषदायक है।

(२) लाक ने प्रकृति के प्रधान और अप्रधान गुणों में भेद किया था, और कहा था कि केवल प्रधान गुण ही बाह्य पदार्थों में विद्यमान हैं। हम पदार्थों को पहचानते

कैसे हैं? इनका रूप-रंग, इनका स्थान, इनका परिमाण बदलते रहते हैं। हम प्रायः इनकी आकृति पर भरोसा करते हैं। जो कुछ लाक ने अप्रधान गुणों की बाबत कहा था, वही प्रधान गुणों की बाबत भी कह सकते हैं। एक हाथ को गर्म पानी में रखें, दूसरे को ठंडे पानी में रखें। फिर दोनों हाथों को तीसरे पात्र के पानी में डालें। पानी एक हाथ को गर्म और दूसरे को ठंडा प्रतीत होगा। एक समय पर, वही पानी गर्म और ठंडा नहीं हो सकता; इसलिए गर्मी और ठंडक पानी में हैं ही नहीं, ये हमारे मन की अवस्थाएं हैं। बर्कले ने लाक की इस युक्ति की पुष्टि की; परन्तु यह भी कहा कि आकृति के सम्बन्ध में इसी प्रकार की कठिनाई से निपटना होता है। मेज एक स्थान से समकोण चतुर्भुज दिखायी देती है। उसे अन्य स्थान से देखें, तो उसके दो कोण समकोण से छोटे और दो बड़े दिखायी देते हैं। चतुर्भुज एक साथ समकोण और असमकोण नहीं हो सकता। इसलिए आकृति वाह्य पदार्थों में नहीं; देखने वाले के मन की अवस्था है। अन्य प्रधान गुण आकृति से अलग नहीं हो सकते; इसलिए वे भी मानसिक अवस्थाएं ही हैं। प्रकृति के सारे गुण, प्रधान व अप्रधान मानसी अस्तित्व ही रखते हैं। सारी सत्ता आत्माओं और उनके ज्ञान की है। अन्दर और बाहर का भेद कल्पना-मात्र है।

(३) इस तरह बर्कले अनुभववाद को लाक की स्थिति से आगे ले गया; और द्वैतवाद का स्थान अद्वैतवाद ने ले लिया। बर्कले के सिद्धान्त में प्रमुख धारणा यह है कि 'अनुभूत पदार्थों का अस्तित्व उनके अनुभूत होने में है।' मैं थोड़ी देर हुई बाजार की ओर गया था। वहां मैंने कई दूकानें देखीं; मार्ग पर कई वृक्ष देखे। उस समय अपने मकान को नहीं देखा। अब मकान में बैठा हुआ बाजार की दूकानों और मार्ग के वृक्षों को नहीं देखता। प्रश्न उठता है कि यदि पदार्थों का अस्तित्व उनके अनुभूत होने में है, तो जो कुछ मैं अब नहीं देखता, वह विद्यमान है, या विनष्ट हो गया है। बर्कले कह सकता है कि जब मैं नहीं देखता, तो और देखने वाले देखते हैं। मैं अपने कमरे को बन्द करके सोता हूं; कोई और मनुष्य उस कमरे में नहीं होता। कमरे का सामान और पुस्तकें, स्वयं मेरा शरीर, निद्राकाल में कमरे में मौजूद रहते हैं, या मेरे सोते ही विनष्ट हो जाते हैं; और जागते ही फिर पहली अवस्था में प्रकट हो जाते हैं? बर्कले कहता है कि यह वस्तुएं निरन्तर परमात्मा के ज्ञान में स्थिर रहतीं हैं। इस तरह वह इस विश्वास को कि पदार्थों का अस्तित्व क्षणिक नहीं, अपने सिद्धान्त से मिलाता है।

(४) बर्कले अपनी प्रमुख पुस्तक 'मानुषी ज्ञान के नियम' को इन शब्दों से आरम्भ करता है:—

'जो कोई भी मानुषी ज्ञान के विषयों की जांच करता है, उसे स्पष्ट दिखायी देता है कि ये विषय तीन प्रकार के अनुभवों में से होते हैं :—

(१) वह अनुभव जो ज्ञान-इन्द्रियों पर अंकित होते हैं,

(२) वह अनुभव जो हमें अपने मन के उद्वेगों और क्रियाओं की ओर ध्यान करने से होते हैं,

(३) वह अनुभव जिन्हें हम, स्मृति और कल्पना की सहायता से, उपर्युक्त दो प्रकार के अनुभवों के संयोग, वियोग, या निरे स्मरण से, बनाते हैं।

यह सब कुछ तो ज्ञात है। ज्ञाता कहां है? हम यह कैसे जानते हैं कि जानने वाली आत्मा भी विद्यमान है? बर्कले कहता है कि ज्ञाता का 'अनुभव' नहीं हो सकता : अनुभव का तत्व क्रिया-विहीनता है, और ज्ञाता वा आत्मा का तत्व क्रियाशीलता है। हमें अपने अस्तित्व का 'बोध' होता है, परन्तु यह बोध 'अनुभव' से भिन्न है। बर्कले ने मानुषी 'ज्ञान' को अपनी खोज का विषय बनाया था; इसलिए ज्ञाता की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया। अपनी आत्मा की तरह, हमें अन्य आत्माओं का भी 'बोध' ही होता है : कोई 'अनुभव' उनका चित्र नहीं हो सकता। बर्कले आत्मिक अनेकवाद में विश्वास करता है, परन्तु यह समझना कठिन है कि मेरे ज्ञान के समाधान के लिए, मेरी आत्मा और परमात्मा के अतिरिक्त किसी अन्य आत्मा की आवश्यकता क्यों है।

(५) मुझे विशेष घोड़ों का ज्ञान उनके गुणों से होता है; विशेष पर्वतों का ज्ञान उनके गुणों से होता है। बर्कले ने यह सिद्ध करने का यत्न किया कि ये सब गुण हमारी मानसिक अवस्थाएं ही हैं; इनकी नींव पर जो प्राकृत द्रव्य का प्रत्यय स्वीकृत था, वह अनावश्यक है। परन्तु यह भी कह सकते हैं कि विशेष घोड़ों के अतिरिक्त हम 'घोड़े' का ध्यान भी कर सकते हैं; विशेष पर्वतों के अतिरिक्त हम 'पर्वत' का ध्यान भी कर सकते हैं। यह प्रत्यय 'सामान्य प्रत्यय' हैं। अनेक पदार्थों को देखकर हम 'द्रव्य' का सामान्य प्रत्यय बनाते हैं। घोड़े विशेष घोड़ों को देखते हैं; उन्हें पहचान भी लेते हैं; परन्तु उन्हें 'घोड़े' का प्रत्यय बनाने की सामर्थ्य नहीं। दो घोड़ों, दो कुत्तों का उन्हें बोध होता है, परन्तु अविशेष 'दो' का बोध नहीं हो सकता। मनुष्यों में अविशेष या सामान्य प्रत्यय बनाने की योग्यता है। वह यह चिन्तन भी कर सकते हैं कि 'दो और दो चार होते हैं।' लाक ने इस योग्यता को बहुत महत्व दिया था, और कहा था कि यह योग्यता ही मनुष्यों को पशुओं से प्रमुख रूप में विभिन्न करती है। बर्कले ने इस योग्यता के भाव को स्वीकार नहीं किया। उसने कहा कि घोड़े तो हैं, और हम उन्हें देखते हैं, और उनकी अनुपस्थिति में, उनका चित्र मन में व्यक्त कर सकते हैं। इनके अतिरिक्त 'घोड़ा' एक नाम ही है, जिसे हम विशेष घोड़ों के

लिए बर्तते हैं। लाक 'प्रत्ययवादी' था, बर्कले 'नामवादी' था। अनुभव में हमें घोड़ों का ज्ञान होता है; 'घोड़े' का ज्ञान नहीं होता। विशेष घोड़े या कोई अन्य विशेष पदार्थ तो मानसी अस्तित्व ही रखते हैं। यदि विशेषों के अतिरिक्त सामान्य को नाम-मात्र ही माना जाय, तो प्राकृत द्रव्य के मानने की आवश्यकता ही नहीं रहती। इस तरह 'नामवाद' की सहायता से बर्कले ने लाक के द्वैतवाद को निराधार जाहिर करने का यत्न किया।

## ३. डेविड ह्यूम

अनुभववादियों में तीसरा बड़ा नाम डेविड ह्यूम (१७११-१७७६) का है।

(१) बर्कले ने लाक के काम की बाबत कहा था कि वह चला तो ठीक मार्ग पर, परन्तु थोड़ी दूर चल कर ठहर गया। ह्यूम ने बर्कले के काम पर इसी प्रकार का निर्णय दिया। बर्कले लाक के मार्ग पर चलकर, लाक से कुछ आगे बढ़ा, परन्तु वह भी, मार्ग के अन्त तक पहुंचने के स्थान में, बीच में ही ठहर गया। ह्यूम ने यत्न किया कि अनुभववाद के अन्तिम नैय्यायिक परिणाम तक पहुंचे, चाहे वह परिणाम कुछ ही हो।

ह्यूम ने भी अपनी बड़ी पुस्तक 'मानव प्रकृति' २६ वर्ष की आयु से पहिले लिखी। उस समय किसी ने इसकी ओर ध्यान नहीं दिया। इस ख्याल से कि पुस्तक की शैली रूखी और कठिन है, उसने १० वर्ष पीछे इसे सरल और आकर्षक बनाने का यत्न किया। यह यत्न भी असफल रहा।

ह्यूम कहता है कि मनुष्यों की बड़ी संख्या नियत कार्य करने और जीवन को सुखी बनाने में ही सन्तुष्ट होती है। जो लोग इससे सन्तुष्ट नहीं होते, उनके लिए 'अन्ध-विश्वास' और 'तर्क' दो मार्ग ही खुले होते हैं। इन दोनों में प्रत्येक अपनी 'रुचि' के अनुसार चुनाव करता है। दार्शनिक भी विवेचन को बुद्धि के नेतृत्व में नहीं, अपितु रुचि की प्रेरणा से अपनाता है। जब यह चुनाव हो जाता है, तो दार्शनिक का काम है कि अपने विचार में बुद्धि को ही प्रमुख रखे। ह्यूम ने निश्चय किया कि वह मनुष्यों को अन्ध-विश्वास से विमुक्त करके तर्क की शरण में लायेगा।

(२) डेकार्ट के दार्शनिक विचार में दो प्रत्यय प्रमुख थे :—द्रव्य और कारण-कार्य सम्बन्ध। उसके बाद भी दार्शनिक विचार इन प्रत्ययों के गिर्द घूमता रहा। बर्कले ने द्रव्य के अस्तित्व को स्वीकार किया; यद्यपि केवल आत्मा को ही द्रव्य का पद दिया। उसने कारण-कार्य सम्बन्ध को भी स्वीकार किया, और कहा कि अनुभव तो सारे कार्य-रूप ही हैं; केवल द्रव्य ही कारण या कर्त्ता है। ह्यूम ने जानना चाहा कि क्या अनुभववाद इन दोनों धारणाओं को स्वीकार कर सकता है। पहले द्रव्य को लें।

बर्कले ने लाक के विरुद्ध सामान्य प्रत्यय के अस्तित्व से इन्कार किया था और कहा था कि जब हम 'घोड़े' या 'त्रिकोण' का चिन्तन करते हैं, तो किसी विशेष घोड़े या त्रिकोण का चित्र हमारे सम्मुख प्रस्तुत हो जाता है। जब हम इसकी विशेषता का ध्यान नहीं करते, और इसे वर्ग के प्रतिनिधि के रूप में देखते हैं, तो इस विशेष चित्र को सामान्य प्रत्यय समझने लगते हैं। ह्यूम ने बर्कले के नामवाद को अपनाया, और इसे बर्कले के विरुद्ध प्रयुक्त किया। बर्कले ने आत्मा को द्रव्य माना था। ह्यूम कहता है कि अनुभववाद इस धारणा की पुष्टि नहीं करता। वह कहता है—

'हमारे सारे अनुभव एक दूसरे से जुदा हैं; हम उनमें भेद कर सकते हैं; वह एक दूसरे से अलग हो सकते हैं; हम उनकी बाबत अलग अलग चिन्तन कर सकते हैं। उन्हें किसी आलम्बन या आश्रय की आवश्यकता नहीं। मेरा अनुभव तो यह है कि जब अपने आप में निकटतम प्रवेश करता हूं, तो मैं सदा किसी विशेष अनुभव—गर्मी, सर्दी, प्रकाश, छाया, प्रेम-द्वेष, दु:ख-सुख से भेंट करता हूं। मैं कभी अपने आपको किसी विशेष अनुभव की अनुपस्थिति में, पकड़ नहीं सकता; न ही अनुभव के अतिरिक्त किसी वस्तु को देख सकता हूं।'

ऊपर के परिच्छेद में आठ बार 'मैं' और 'हम' का प्रयोग हुआ है। आंख सब कुछ देखती है, अपने आपको नहीं देखती। शीशे में भी अपने बिम्ब को देखती है, अपने आपको नहीं देखती। हाथ अन्य पदार्थों को तोलता है, अपने आप को तोल नहीं सकता। ह्यूम ने द्रष्टा को दृश्यों में देखना चाहा, और उसे वहां नहीं देखा।

ह्यूम इस परिणाम पर पहुंचा कि जिस तरह प्राकृत पदार्थ गुण-समूह ही है, उसी तरह आत्मा भी चेतना-अवस्थाओं का पुंज है। आत्मा उनसे अलग कुछ नहीं। इस तरह, ह्यूम ने द्रव्य को अस्तित्व से खारिज कर दिया। महाद्वीप के तीनों विवेचकों ने इसे प्रधान प्रत्यय स्वीकार किया था। अनुभववादी लाक और बर्कले ने भी इसे माना था। ह्यूम ने कहा कि अनुभववाद में द्रव्य के लिए कोई स्थान नहीं।

डेकार्ट का दूसरा प्रमुख प्रत्यय कारण-कार्य सम्बन्ध था। लाक और बर्कले दोनों इसे स्वीकार करते थे। ह्यूम ने कहा—'अनुभववाद इसकी बाबत भी निश्चित ज्ञान नहीं दे सकता।' 'हमारे सारे अनुभव एक दूसरे से जुदा हैं।' जब हम एक घटना क को अनेक बार घटना ख के पूर्व होता देखते हैं, तो उसे ख का कारण कहने लगते हैं। हमारा निर्णय हमारे मन की वृत्ति को व्यक्त करता है, जिसके कारण अभ्यास हमारे दृष्टि-कोण को बदल देता है; वास्तविकता के स्वरूप को नहीं दर्शाता। यदि घटना ख को कारण क की आवश्यकता है, तो क को भी एक कारण की आवश्यकता है, और उस कारण को और कारण की, यह परिपाटी तो कभी समाप्त

ही नहीं होगी। फिर हमने यह फर्ज कर लिया है कि क और ख के बीच में और कोई घटना नहीं हुई। हो सकता है कि उनके दर्मियान क' क'' क'''...अनेक घटनाएं हुई हों, और हमें उनका ज्ञान न हो। जब मैं किसी का शब्द सुनता हूं, तो उसके बोलने और मेरे सुनने के दर्मियान, वायु-मंडल में और मेरे शरीर में अनेक घटनाएं होती हैं। कारण-कार्य का सम्बन्ध होता होगा; हमारा अनुभव इसकी बाबत निश्चित रूप से नहीं बताता।

ह्यूम ने यह नहीं कहा कि द्रव्य का अभाव है, न यह कि कारण-कार्य का अभाव है। इतना ही कहा कि हमारा अनुभव इनकी बाबत नहीं बताता।

(३) ह्यूम कहता है कि हमारे ज्ञान के तीन स्रोत हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान और कल्पना। प्रत्यक्ष अनुमान और कल्पना दोनों का आधार है। इसलिए इसकी ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। प्रत्यक्ष के बाद उसका चित्र भी प्रस्तुत हो जाता है। मौलिक ज्ञान 'प्रत्यक्ष' और 'चित्र' के रूप में ही होता है। लाक और बर्कले ने इन दोनों के लिए एक ही शब्द (आइडिया) का प्रयोग किया था; ह्यूम ने इन दोनों में भेद किया। प्रत्यक्ष क्षणिक होता है, और किसी विशेष घटना का होता है। हम समझते हैं कि जो भवन कल देखा था, और आज फिर देखा है, वह अन्तर में भी बना रहा है। हमारी बुद्धि यह बता नहीं सकती कि बना रहा है, या नहीं। दोनों स्थितियां सम्भव हैं। हमारी कल्पना व्यावहारिक दृष्टि से देखकर कहती है—'यही मानना अच्छा है कि भवन अन्तर में बना रहा है।' कल्पना ही अनेक मानसी अवस्थाओं को एक सूत्र में पिरो कर, मन या आत्मा का प्रत्यय देती है। यह बुद्धि की सामर्थ्य से बाहर है कि वह इन प्रश्नों का उत्तर निर्णीत हां या नामें दे सके।

ह्यूम सन्देहवादी था। कुछ पुराने सन्देहवादी तो इतना कहने में भी हिचकिचाते थे कि वर्षा हो रही है; वह कहते थे—'ऐसा प्रतीत होता है कि वर्षा हो रही है।' ह्यूम का सन्देहवाद इतनी दूर नहीं गया। वह कहता था कि जो ज्ञान सीधा, प्रत्यक्ष अनुभव है, वह तो असन्दिग्ध है। 'मुझे हरेपन का भास होता है;' 'मुझे यह हो रहा है।' जब मैं इससे आगे जाता हूं, तो अनुमान को या कल्पना को बर्तने लगता हूं, और इनमें भूल की सम्भावना आ जाती है। जो लोग कहते हैं कि गणित, नीति या किसी अन्य क्षेत्र में, १००% सत्य जानने की सम्भावना है, वह बुद्धि की सीमाओं को नहीं पहचानते। हमारे ज्ञान में सम्भावना की वृद्धि होती है; पूर्ण निश्चितता प्राप्त नहीं होती। जिस उच्च स्तर पर विवेचकों ने बुद्धि को बिठाया था, ह्यूम ने उससे उसे नीचे खींच लिया। केवल एक सत्य को ही उसने स्पष्ट देखा, और वह यह था कि पूर्ण सत्य हमारी पहुंच से परे है।

ह्यूम की प्रमुख धारणा यह थी कि, जहां तक हम जान सकते हैं, सारी सत्ता प्रकटनों की है, और यह प्रकटन हमारे 'अनुभव' और उनके 'चित्र' हैं। द्रव्य की स्थिति में, आत्मा की कोई सत्ता नहीं; यह चेतना अवस्थाओं की पंक्ति है। यहां प्रश्न होता है कि इसके पंक्ति होने का ज्ञान किसे होता है? चेतना धारा के रूप में सर्वदा बहती रहती है। कोई दो अवस्थाएं एक साथ विद्यमान नहीं होतीं और किसी पंक्ति को यह ज्ञान नहीं हो सकता कि वह पंक्ति है। अवस्थाओं का एक दूसरे के पीछे आना एक बात है; एक दूसरे के पीछे आने का ज्ञान दूसरी बात है। पंक्ति के पंक्ति होने का ज्ञान किसी ऐसे ज्ञाता को ही होता है, जो पंक्ति के बाहर स्थित हो।

ह्यूम कहता है कि अनुभवों के अतिरिक्त उनके चित्र भी हमारे ज्ञान में विद्यमान हैं। हम इन चित्रों को चित्र कैसे पहचानते हैं? स्वप्न में हम यह भेद नहीं करते; जागरण में तो करते ही हैं। यह भेद स्मृति की सहायता से होता है। मैं अपने मकान को, अपने सामान को, अपने मित्रों को पहचानता हूं। मुझे याद है कि मैं कल गंगा-पुल पर गया था। यह ज्ञान तो उसे ही हो सकता है, जो कल भी ज्ञाता था, और आज भी ज्ञाता है। वही अनुभव और उसके चित्र को देखकर उनकी समानता असमानता की बाबत कह सकता है। विलियम जेम्स ने ठीक कहा है कि अनुभववाद को 'स्मृति मांगनी पड़ती है!' स्मृति हमारे ज्ञान में एक असन्दिग्ध अंश है, और अनुभववाद इसका समाधान नहीं कर सकता।

ह्यूम ने अनुभववाद को इसके तार्किक अन्त तक पहुंचा दिया। कांट ने देखा कि जिस मार्ग पर अनुभववाद चला था, उसका फल यही होना था। उसने विवेचनवाद और अनुभववाद के समन्वय से एक नया पथ प्रस्तुत किया। ह्यूम की बड़ी सेवा यही थी कि उसने कांट के लिए मार्ग साफ किया।

अनुभववाद के उत्थान को देखकर कहा जाता है कि 'लाक के अभाव में बर्कले न होता; बर्कले के अभाव में ह्यूम न होता; और ह्यूम के अभाव में कांट न होता।'

अनुभववादी सत् की खोज में निकले थे; खोज करते-करते ऐसे बियाबान में जा पहुंचे, जहां अपने आपको ही खो बैठे।

# अद्वैतवाद

पिछले दो अध्यायों में हमने महाद्वीप के तीन तत्व-विवेचकों और इंग्लैंड के तीन अनुभववादियों के विचारों का कुछ अध्ययन किया है। दोनों तथ्यों की हालत में विचार के उत्थान में एक दिलचस्प समानता दिखायी देती है।

तत्वविवेचक : डेकार्ट, स्पीनोजा, लाइबनिज।

अनुभववादी : लाक, बर्कले, ह्यूम।

डेकार्ट और लाक दोनों द्वैतवादी थे। स्पीनोजा, और बर्कले दोनों अद्वैतवादी थे। लाइबनिज और ह्यूम दोनों अनेकवादी थे; लाइबनिज असंख्य तात्विक-बिन्दुओं में विश्वास करता था; ह्यूम असंख्य प्रकटनों में विश्वास करता था। इस तरह, दोनों हालतों में हम द्वैतवाद से आरम्भ करते हैं; दूसरी मंजिल में, अद्वैतवाद पर पहुंचते हैं; और अन्त में, अनेकवाद पर जा टिकते हैं। अभी तक हमने अपने अध्ययन को विशेष विचारकों तक सीमित रखा है, परन्तु ये दृष्टिकोण तत्वज्ञान में व्यापक से बने रहे हैं। अब हम सीमाओं से विमुक्त होकर, इन मतों पर विचार करें। पहले अद्वैतवाद को लें।

अद्वैतवाद के तीन प्रमुख रूप हैं :—

१ प्रकृतिवाद,

२ आत्मवाद,

३ स्पीनोजा का एकवाद।

स्पीनोजा के मत पर तो कह चुके हैं; पहले दो मतों पर यहां कुछ कहेंगे।

## १. प्रकृतिवाद

प्रकृतिवाद अपने उत्थान में तीन मंजिलों से गुजरा है। पहिली मंजिल में, यह तत्व-विवेचकों के विचार का विषय था। दूसरी मंजिल में, इसने विज्ञान और शिल्प-विद्या के प्रभाव में नया रूप धारण किया। तीसरी मंजिल में, मानवी विद्याओं के आविर्भाव ने इसे एक और रूप दे दिया।

## १. प्राचीन प्रकृतिवाद

प्राचीन प्रकृतिवाद 'परमाणुवाद' के रूप में प्रकट हुआ। वाह्य जगत में हम जो कुछ देखते हैं, वह परिमाण रखता है। हम ईंट को तोड़ कर दो टुकड़े करते हैं। इन टुकड़ों को भी तोड़ सकते हैं। क्या ऐसे विभाजन का कोई अन्त नहीं? परमाणु-वादियों का ख्याल था कि वास्तविक क्रिया में ही नहीं, कल्पना में भी हम कहीं न कहीं जाकर रुक जाते हैं। प्रकृति का वह अंश जो आगे विभाजित नहीं हो सकता, परमाणु कहलाता है। परमाणुवाद के अनुसार, परमाणु ही सत् हैं; जो कुछ भी हमें दिखायी देता है, परमाणुओं के संयोग का फल है।

संयोग होता कैसे है? संयोग के लिए आवश्यक है कि परमाणु अपने स्थान से चलकर दूसरे स्थान पर पहुंचें। इस तरह परमाणुओं के अतिरिक्त, खाली आकाश और गति का अस्तित्व भी मानना पड़ता है। परमाणु और अवकाश तो नित्य है; गति कैसे होती है? परमाणुवाद के अनुसार, सारे परमाणु अपने बोझ के कारण ऊपर से नीचे को गिरते हैं। परमाणुओं में छोटे-बड़े का भेद है। बड़े परमाणु अपने बोझ की अधिकता के कारण, अधिक वेग से गिरते हैं, और हलके परमाणुओं को आ पकड़ते हैं। ऐसा परमाणुवाद के प्रसिद्ध समर्थक डिमाक्राइटस का मत था। अब विज्ञान बताता है कि भारी और हलकी वस्तुएं शून्य में एक ही वेग से गिरती हैं। किसी तरह डिमाक्राइटस के पीछे आने वाले परमाणुवादियों को भी इस तथ्य का पता लग गया। ऐसी स्थिति में तो यह सम्भव ही नहीं कि कोई दो परमाणु अपनी गति में मिल सकें। इस कठिनाई से बचने के लिए, उन्होंने कहा कि परमाणु पूर्ण लम्ब रूप में नहीं गिरते; अपितु गिरते हुए अपने मार्ग को कुछ बदल सकते हैं, और इस तरह संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। इस कल्पना से संयोग की समस्या तो हल हो गयी, परन्तु एक और कठिनाई उठ खड़ी हुई। प्रकृतिवाद स्वाधीनता को स्वीकार नहीं करता। इसी बुनियाद पर वह आत्मा की सत्ता को अस्वीकार करता है।

यदि परमाणु भी बीज रूप में स्वाधीनता रखते हैं, तो विकसित रूप में यह आत्माओं में क्यों नहीं हो सकती?

परमाणुवादी परमाणुओं में परिमाण और आकृति का भेद मानते थे। इन दोनों और स्थिति के मेल से, प्राकृत पदार्थों में गुण-भेद प्रकट होता है। अग्नि समतल और गोल परमाणुओं से बनती है। आत्मा भी ऐसे परमाणुओं का संघात है, और विशुद्ध और सूक्ष्म अग्नि ही है।

### २. वैज्ञानिक प्रकृतिवाद

विज्ञान की उन्नति ने कला-कौशल को जन्म दिया। नवीन युग को कला-युग या मशीन का युग कहा जाता है। मशीन को बनाता तो मनुष्य है, परन्तु जब यह बन जाती है, तो मनुष्य इसका हथियार सा बन जाता है। प्राचीन परमाणुवाद के सम्मुख विश्व की बनावट का प्रश्न मुख्य प्रश्न था। वैज्ञानिक प्रकृतिवाद के लिए स्वयं मनुष्य विशेष महत्व का प्रश्न बन गया है। मनुष्य भी प्रकृति का एक टुकड़ा ही है, या इससे कुछ अधिक है?

वैज्ञानिक प्रकृतिवाद तीन धारणाओं पर आधारित है :—

(१) मनुष्य अंगों और इन्द्रियों का संघात ही है; इसमें स्वतन्त्र चेतन तत्व कोई नहीं। सब कुछ प्रकृति का ही खेल है। प्रकृति के उत्थान में, एक मंजिल पर 'जीवन' प्रकट हो जाता है; उसके पीछे, एक और मंजिल पर चेतना प्रकट हो जाती है।

(२) विश्व में नियम का राज्य व्यापक है। मनुष्य भी सर्वथा नियम के अधीन है। स्वाधीनता का वास्तविक अस्तित्व कुछ नहीं; यह भ्रम ही है।

(३) जो नियम संसार को नियमित करता है, वह स्वयं प्रकृति का नियम है; किसी चेतन शक्ति का लागू किया हुआ नहीं। संसार में किसी 'प्रयोजन' का पता नहीं चलता। विज्ञान क्रम का अध्ययन करता है; उद्देश्यों या प्रयोजनों के झमेले में नहीं पड़ता।

इन तीनों धारणाओं पर विचार करने की आवश्यकता है।

(१) जैसा हम देख चुके हैं, परमाणुओं की एकमात्र क्रिया गति या स्थान-परिवर्तन है। कुछ प्रकृतिवादी कहते हैं कि चिन्तन गति का ही रूप है; कुछ कहते हैं कि यह गति के साथ उत्पन्न होने वाला एक प्रकटन है, जैसा दौड़ती रेलगाड़ी के साथ दौड़ती छाया, या काम करते हुए इंजन के साथ शोर होता है। चिन्तन को हम सब जानते हैं; अन्य सब वस्तुओं से बेहतर जानते हैं। चेतना और स्थान-परिवर्तन में कोई समानता नहीं। प्रकृति और चेतना में इतना अन्तर है, जितना और कहीं दिखायी नहीं देता। फ्रांस के दार्शनिक हेनी बर्गसाँ ने चेतना का अच्छा विश्लेषण किया है। इसके अनुसार, चेतना में निम्न चिह्न पाये जाते हैं :—

(क) चेतना-अवस्थाएं अस्थिरता का नमूना हैं। कोई अवस्था क्षण भर के लिए भी नहीं ठहरती। नदी की तरह, चेतना निरन्तर प्रवाह में ही रहती है।

(ख) कोई दो चेतना-अवस्थाएं पूर्ण रूप में एक जैसी नहीं होतीं। जो अवस्था अभी गुजरी है, वह सदा के लिए भूत का भाग बन गयी है; वह लौट कर आ नहीं सकती।

कोई अन्य अवस्था इसकी पूरी नकल नहीं हो सकती। नयी और पुरानी अवस्थाओं की पूर्ण समानता के लिए, दो बातों की आवश्यकता है—एक यह कि जो वस्तु ज्ञान का विषय है, उसमें कोई परिवर्तन न हो; दूसरे यह कि ज्ञाता में परिवर्तन न हो। यह शर्तें पूरी नहीं होतीं।

(ग) जो अवस्था गुजरती है, वह भूत काल का भाग तो बन जाती है, परन्तु उसका विनाश नहीं होता। भूत का अस्तित्व बना रहता है। जैसे बर्फ का गोला पहाड़ की बगल से लुढ़कता हुआ अपना अस्तित्व कायम रखता है, और मात्रा में बढ़ता जाता है, वैसे ही चेतना अपनी गति में अपने भूत को अपने साथ लिये चलती है। जो कुछ भी मैंने अभी तक पढ़ा है, वह सब मुझे स्मरण नहीं, परन्तु मेरे ज्ञान में प्रविष्ट है। जो कुछ मैंने किया है, वह मेरे चरित्र में विद्यमान है। इसीको वृद्धि कहते हैं। चेतन प्राणियों का इतिहास होता है—वह बालक से युवक बनते हैं, और युवक से वृद्ध होते हैं।

अब देखें कि क्या यह चिह्न प्रकृति में पाये जाते हैं। प्रकृतिवाद के अनुसार परमाणुओं में परिवर्तन नहीं होता। वे स्थिरता के नमूने हैं। चेतना में यही नहीं होता कि एक अवस्था के पीछे दूसरी आती है, अपितु एक ही अवस्था में भी प्रवाह दिखायी देता है।

चेतना में गति एक ही दिशा में होती है; इसके उलटा चलने की सम्भावना ही नहीं। प्रकृति की हालत में यह होता ही रहता है। पानी समुद्र से भाप के रूप में उठता है, बादल बनता है, और वर्षा होने के पीछे फिर समुद्र में पहुंच जाता है। सृष्टि और प्रलय, प्रलय और सृष्टि, यह क्रम चलता रहता है।

चेतना का तीसरा चिह्न वृद्धि या उन्नति है। वृद्धि के साथ मेरा ज्ञान अधिक ही नहीं होता, इसमें गुण-सम्बन्धी परिवर्तन भी होता है। प्रकृति में ऐसा परिवर्तन नहीं होता। प्राकृत पदार्थ का कोई इतिहास नहीं होता।

इस तरह चेतना के प्रमुख चिह्न प्रकृति में विद्यमान नहीं। हम यह स्वीकार नहीं कर सकते कि चेतना गति या इसके प्रकटन से भिन्न कुछ नहीं।

(२) प्रकृतिवाद की दूसरी धारणा यह है कि सारे संसार में नियम का राज्य है, और स्वाधीनता के लिए कोई स्थान नहीं। संसार में शक्ति की एक मात्रा मौजूद है। यह रूप बदलती रहती है; बढ़ती-घटती नहीं। गति, ज्योति, गर्मी आदि सब एक शक्ति के ही रूप हैं।

शक्ति की स्थिरता का नियम परीक्षा किया हुआ तथ्य नहीं, वैज्ञानिकों की प्रतिज्ञा या कल्पना है, जिसे उसकी उपयोगिता की नींव पर स्वीकार कर लिया गया

है। जब मैं चाहता हूं कि लिखना आरम्भ करूं, तो लिखने लगता हूं। मैं समझता हूं कि मेरा लिखना मेरी इच्छा का परिणाम है। प्रकृतिवाद के अनुसार यह भ्रम है। हुआ केवल यही है कि प्राकृत शक्ति अन्य रूप से मेरी क्रिया के रूप में व्यक्त होती है। ऐसा ही होगा, परन्तु मेरा ज्ञान कहां से प्रकट हो जाता है? इसमें भी कुछ प्राकृत शक्ति ने एक नया रूप धारण किया है। प्राकृत शक्ति की निश्चितता तो प्राकृत शक्ति को एक बन्द वृत्त बनाती है; न कुछ बाहर से इसमें आता है, न इससे बाहर जाता है। ज्ञान की उत्पत्ति इस शक्ति का वृत्त से बाहर चला जाना है। मेरा कर्म नहीं, तो मेरा ज्ञान तो प्राकृत शक्ति की निश्चितता का खण्डन कर देता है।

यदि हम मान भी लें कि शक्ति की मात्रा नियत है, तो भी हमारे करने के लिए कुछ रहता ही है। जब इंजीनियर नहर खोदता है, तो जल को यह आदेश नहीं देता कि वह आकर्षण-नियम का उल्लंघन करे; वह उसे इतना ही कहता है—'चलो नियमानुकूल, परन्तु ऐसी दिशा में चलो, जिसे हम चुनते हैं।' टामस हक्सले ने कहा था 'मनुष्य को जीवन के व्यवहार के लिए दो विश्वासों की ही आवश्यकता है—एक यह कि हमारे लिए प्रकृति की व्यवस्था को समझने की असीम सम्भावना है, और दूसरी यह कि घटनाओं के क्रम को, निश्चित करने में हमारे संकल्प का भी कुछ भाग है।'

(३) प्रकृतिवाद की तीसरी धारणा यह है कि जगत में प्रयोजन का कहीं पता नहीं चलता; जो कुछ हो रहा है, निष्प्रयोजन हो रहा है। विज्ञान का काम तीन प्रश्नों का उत्तर देना है—'क्या, कैसे, और क्यों?' तीसरा प्रश्न घटनाओं के समाधान की बाबत है। विज्ञान ने समाधान के एक रूप को अपनाया है। यह देखने का यत्न किया जाता है कि घटना के पहले अन्य कौन सी घटनाएं हुई थीं, जिनमें से किसी की अनुपस्थिति में यह घटना न होती। विज्ञान अपने समाधान के लिए पीछे की ओर देखता है। मानसी विद्याएं आगे की ओर देखती हैं। मैं यह लेख क्यों लिख रहा हूं? भौतिक विज्ञान कहता है कि कुछ हरकत मेरे मस्तिष्क में हुई थीं; उसने क्रिया-तन्तुओं से गुजर कर, कुछ पट्ठों को गतिशील कर दिया है। मनोविज्ञान से यही प्रश्न पूछें, तो वह कहता है कि मैं कुछ लोगों से मानसिक सम्पर्क स्थापन करने के लिए लिख रहा हूं। मनोविज्ञान पीछे की ओर नहीं, आगे की ओर देखता है।

क्या वास्तव में मेरे जीवन में प्रयोजन मौजूद है? मैं यदि कुछ जानता हूं, तो यह भी जानता हूं कि मैं प्रयोजन-सिद्धि के लिए यत्न करता हूं। संकल्प मानसिक जीवन का एक प्रसिद्ध अंश है। विकासवाद ने प्रकृतिवाद को बड़ा सहारा दिया। विकास एक निरन्तर परिवर्तन है। यह परिवर्तन अनियमित है, या निश्चित दिशा में

गति है?" डार्विन ने 'संघर्ष' पर बहुत बल दिया। संघर्ष तो होता ही किसी उद्देश्य के लिए है। विकास निरी गति नहीं, प्रगति है,—प्रगति के अतिरिक्त दो और चिह्न प्रयोजन का पता देते हैं—एकीकरण और विशिष्टता।

बच्चा पैदा होता है। उसके लिए उपयोगी खाद्य, दूध के रूप में, माता के स्तनों में प्रकट हो जाता है। स्वयं उसमें दूध चूसने की योग्यता विद्यमान हो जाती है। माता ने चूसनें की शक्ति बच्चे को नहीं दी; बच्चे ने माता के शरीर में दूध का उत्पादन नहीं किया। जीवन को कायम रखने के लिए यह एकीकरण हुआ है। एक और उदाहरण। मैंने कल और परसों भूख मिटाने के लिए खाना खाया था। आज फिर ऐसा ही करूंगा। स्मृति मुझे इसमें सहायता देती है। परन्तु स्मृति की सहायता उसी हालत में काम आ सकती है, जब वाह्य जगत में कारण-कार्य सम्बन्ध की एकरूपता बनी रहे। स्मृति के अभाव में यह एकरूपता, और एकरूपता के अभाव में स्मृति लाभकारी नहीं हो सकती।

विशिष्टता से काम करने में आसानी होती है, और काम अच्छा भी होता है। कुदरत में विशिष्टता के उदाहरण हर ओर मिलते हैं। आंख के घटक केवल देखने में सहायक होते हैं; कान के घटक सुनने में। विकास का अर्थ ही यह है कि समानता के स्थान में विभिन्नता उत्पन्न हो; हरेक भाग अपने काम में विशेषता प्राप्त करे, और सारे एक ही उद्देश्य की पूर्त्ति में सहयोग दें।

अन्त में हम कहना चाहते हैं कि यदि प्रकृतिवाद की धारणा ठीक भी है, तो हमें इसका ज्ञान नहीं हो सकता। प्रकृतिवादी कहता है कि प्रकृतिवाद सत्य सिद्धान्त है। वह अपने मस्तिष्क में होने वाली एक हरकत का वर्णन करता है। मैं कहता हूं कि प्रकृतिवाद असत्य सिद्धान्त है। मैं अपने मस्तिष्क की एक हरकत का वर्णन करता हूं। हम दोनों में मत-भेद कहां है? वह एक घटना की बाबत कहता है; मैं दूसरी घटना की बाबत कहता हूं। जिस वृत्त में प्रकृतिवाद हमें बन्द कर देता है, उसमें घटनाएं तो हैं; सत्यासत्य-परख की कसौटी वहां हो ही नहीं सकती।

### ३. ऐतिहासिक प्रकृतिवाद

इतिहास भूतकाल की घटनाओं की कथा है। ये घटनाएं एक विशेष क्रम में हुई हैं। क्या यह आवश्यक था कि ये इसी क्रम में होतीं? या इनका क्रम भिन्न भी हो सकता था? जो लोग कहते हैं कि गति एक निश्चित लक्ष्य की दिशा में हुई है, वह 'इतिहास की फिलासोफी' में विश्वास करते हैं। हीगल ने इस ख्याल पर जोर दिया। कुछ लोग कहते हैं कि मानव जाति का इतिहास स्वाधीनता के संघर्ष की

कथा है; कुछ और इसे नैतिक भद्र के संघर्ष की कथा बताते हैं। साम्यवाद के नेताओं ने हीगल के मौलिक विचार को तो स्वीकार किया परन्तु संघर्ष के रूप के सम्बन्ध में एक नया दृष्टि-कोण पेश किया। इनके विचारानुसार मनुष्य जाति के सामने प्रमुख प्रश्न आदर्शों का नहीं, लौकिक सम्पत्ति प्राप्त करने का रहा है। मानव-इतिहास स्वामियों और अस्वामियों के संघर्ष की कथा है, और अब भी स्थिति यही है। इस विचार को 'इतिहास का प्राकृत प्रत्यय' कहते हैं। इसी को 'ऐतिहासिक प्रकृतिवाद' भी कहते हैं। वास्तव में यह कोई दार्शनिक 'वाद' नहीं। यह एक प्रकार की मनोवृत्ति है, जो लोक को परलोक से प्रथम स्थान देती है, और लौकिक जीवन में मस्तिष्क और हृदय की अपेक्षा मेदे को अधिक महत्व देती है। हमारा वर्तमान काम तो मौलिक तत्व की बाबत सोचना है।

## २. आत्मवाद

आत्मवाद सारी सत्ता को चेतन और चेतना में देखता है। इसके अनुसार प्रकृति का कोई अस्तित्व नहीं; कम से कम, कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं।

आत्मवाद के भी तीन रूप हैं:—

(१) मानसी आत्मवाद

(२) अमानसी आत्मवाद

(३) निरपेक्ष आत्मवाद

इन तीनों को अलग-अलग लेंगे।

### १. मानसी आत्मवाद

बर्कले मानसी आत्मवाद का प्रसिद्ध समर्थक है। उसके विचारानुसार सारी सत्ता आत्माओं और उनके अनुभवों की ही है। कुछ मिश्रित अनुभवों को हम आप बनाते हैं, परन्तु सभी सरल अनुभव परमात्मा की ओर से हमारे मन में उत्पन्न होते हैं। बर्कले अनेक जीवात्माओं में विश्वास करता था, परन्तु उसके सिद्धान्त के अनुसार इतना ही पर्याप्त प्रतीत होता है कि मैं अपने और परमात्मा के अस्तित्व को मानूं। मानसी आत्मवाद पर हम विचार कर चुके हैं।

### २. अमानसी आत्मवाद

आत्मवाद होने की स्थिति में अमानसी आत्मवाद सारी सत्ता को अप्राकृत तो बताता है, परन्तु यह नहीं कहता कि सारा ज्ञान मेरे अन्दर है, न यह कि ज्ञान की उत्पत्ति में परमात्मा की निरन्तर क्रिया विद्यमान है।

अमानसी आत्मवाद के दो रूप हैं। हम इन्हें 'चेतनावाद' और 'चेतनवाद' कह सकते हैं। चेतनावाद के अनुसार ज्ञान-जगत चेतनामात्र है। यह चेतना सारी एक ही तीव्रता की नहीं, न ही एक समान अवकाश में बंटी हुई है। जैसे मरुभूमि में कहीं छोटा ढेर होता है, कहीं बड़ा होता है; कहीं रेत के असम्बद्ध दाने होते हैं, कहीं चट्टान होती है; वैसे ही चेतना भी अनेक रूपों में दिखायी देती है। जड़ पदार्थ सबसे अधम श्रेणी की चेतना के ढेर हैं। वृक्ष उससे अधिक तीव्र चेतना के समूह हैं। पशु-पक्षियों और मनुष्यों की चेतना उच्च कोटि की है।

कुछ आत्मवादी कहते हैं कि चेतना, चेतन से अलग, कल्पना मात्र है। इनके मतानुसार, अमानसी आत्मवाद चेतनवाद है। हमारे ज्ञान का विषय अन्य ज्ञानी हैं। चेतनावाद परिमाण वा मात्रा के पर्दों में चिन्तन करता है; चेतनवाद संख्या को प्रमुख बनाता है। जगत असंख्य चेतनों वा ज्ञाताओं का समुदाय है। जैसा हम देख चके हैं, लाइबनिज की ऐसी धारणा थी।

### ३. निरपेक्ष आत्मवाद

आत्मवाद का सबसे अधिक प्रभावशाली रूप निरपेक्ष आत्मवाद है। कांट के पीछे आने वाले जर्मनी के दार्शनिक इसके बड़े समर्थक हैं। कांट ने कहा था कि हमारे ज्ञान की सामग्री हमें बाहर से प्राप्त होती है; उसे विशेष आकृति देना मन का काम है। फिखटे ने कहा—'हम जगत का निर्माण ही नहीं करते; हम इसकी रचना करते हैं।' आत्मा की प्रकृति ही ऐसी है कि ज्ञान के विषय को उत्पन्न करे। शैलिंग ने ज्ञाता और ज्ञेय दोनों को 'निरपेक्ष मन' के दो प्रकटनों के रूप में देखा। 'जगत (नेचर) दृष्ट आत्मा है; आत्मा अदृष्ट जगत है।'

नवीन काल का सबसे बड़ा आत्मवादी हीगल है। हीगल के सिद्धान्त में तीन बातें प्रमुख हैं :—

(१) विश्व में मन की प्रथमता है।

(२) विश्व में जो कुछ होता है, नियमानुसार होता है। 'जो कुछ वास्तविक है, वह विवेक-युक्त है; जो कुछ विवेक-युक्त है, वह वास्तविक है।'

(३) विश्व के विकास में हर कहीं 'विरोध' प्रकट होता है; परन्तु यह 'विरोध' सामंजस्य में बदल सकता है। यह क्रम मनुष्य के जीवन में और इतिहास में एक समान दिखायी देता है। प्रत्येक 'धारणा' में, इसकी विरोधी प्रति-धारणा छिपी होती है; और प्रकट हो जाती है। पीछे दोनों के मेल से समन्वय प्रकट होता है। यही विकास की कथा है।

हीगल के विचार में, सत्ता की प्रथम अवस्था 'अस्पष्ट चेतना' होती है; दूसरी मंजिल में 'भूमंण्डल' व्यक्त होता है। यह जड़ प्रकृति से आरम्भ करता है; फिर सजीव प्रकृति (वनस्पति) का रूप धारण करता है; और अन्त में मनुष्य के शरीर में प्रकट होता है। तीसरी मंजिल में सत्ता 'चेतन मन' का रूप ग्रहण करती है। मन के प्रकट होने पर इतिहास का आरम्भ होता है। मनुष्य के विकास में निम्न मंजिलें आती हैं—

चेतना, आत्मबोध, बुद्धि, आत्मा, धर्म, निरपेक्ष ज्ञान, अन्तिम मंजिल पर पहुंच कर, 'निरपेक्ष मन' का उद्देश्य पूरा हो जाता है। यह उद्देश्य उसका अपना विकास करना ही है।

इंग्लैंड में जिन विचारकों ने, थोड़े भेद के साथ, हीगल के आत्मवाद का प्रसार किया, उनमें ब्रैडले का नाम प्रमुख है। उनके विचार के अनुसार अन्तिम सत्ता एक 'व्यक्ति' है, जिसके अंश भी चेतन व्यक्ति हैं। स्वयं 'निरपेक्ष' तो हानि लाभ से परे है, इसका अपना कोई इतिहास नहीं; परन्तु इसकी सत्ता के अन्तर्गत असंख्य इतिहास विद्यमान हैं।

जीवात्मा भी ब्रह्म के प्रकटन हैं। प्रश्न होता है कि इन प्रकटनों की सत्ता स्थिर है, या अस्थिर है? ब्रैडले का ख्याल है कि ब्रह्माण्ड में जो परिवर्तन हो रहा है, उसमें अप्रधान व्यक्ति (जीवात्मा) प्रकट भी होते हैं, और समाप्त भी हो जाते हैं। कुछ आत्मवादी इससे सहमत नहीं। प्रिंगल पैटिसन के विचार में प्रत्येक जीवात्मा अपनी विलक्षणता रखता है, और कोई अन्य आत्मा उसका स्थान ले नहीं सकता। वह भी 'निरपेक्ष' की तरह नित्य है।

हमारी चेतना में ज्ञान और क्रिया सम्मिलित हैं। यह दोनों एक ही वस्तु के दो पक्ष हैं, और एक दूसरे से अलग नहीं हो सकते। हीगल ने ज्ञान या बोध को सत्ता का तत्व बताया; उसके सहयोगी शापनहावर ने 'इच्छा-शक्ति' या संकल्प को यह प्रतिष्ठा दी। हीगल का मूलक बोध अस्पष्ट था; शापनहावर की इच्छा-शक्ति अंधी थी। यह भी अपने विकास में तीन मंजिलों से गुजरी। पहली मंजिल में यह 'प्राकृत बल' के रूप में व्यक्त हुई; दूसरी मंजिल में इसने संगठन करने वाले 'जीवन' का रूप ग्रहण किया; तीसरी मंजिल में यह 'मन' बनी। यह शक्ति जन्म से अन्धी थी; अब भी इसकी क्रिया अधिकांश विवेक से शून्य ही होती है। परिणाम यह है कि जीवन में दुःख ही दुःख है। हमारा चलना क्या है? कुछ समय के लिए गिरने को टालना है। हमारा जीवन क्या है? मृत्यु की पकड़ में कुछ देर करना है। शापनहावर अपने समय का प्रसिद्ध अभद्रवादी था।

४. आलोचना

आत्मवाद का उद्देश्य मनुष्य के गहरे विश्वासों को दो आक्रमणों से बचाना था। एक आक्रमण प्रकृतिवाद की ओर से हुआ था; दूसरा सन्देहवाद की ओर से। कुछ प्रकृतिवादी कहते थे कि जैसे गुर्दे से पित्त रस कर बहता है, वैसे ही चिन्तन मस्तिष्क से बहता है। वे आत्मा और परमात्मा की सत्ता से इन्कार करते थे। आत्मवाद ने उनके विचार-शून्य दावों का उत्तर उन्हीं की रीति से दिया। प्रकृतिवाद ने कहा था—'प्रकृति के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं'; आत्मवाद ने कहा—'प्रकृति है ही नहीं।' कांट ने नवीन आत्मवाद को आरम्भ किया। कुछ लोगों के ख्याल में उसका उद्देश्य धर्म को तर्क के आक्रमणों से सुरक्षित करना था। हीगल ने ब्रह्म-जिज्ञासा को धर्म और दर्शन दोनों का सांझा लक्ष्य बताया।

सन्देहवाद की धारणा यह थी कि हमारे लिए वाह्य जगत का ज्ञान सम्भव ही नहीं। एक ही पदार्थ की बाबत, विविध इन्द्रियों की सूचना एक नहीं होती : जो वस्तु आंख से पानी दिखायी देती है, स्पर्श उसे रेत बताता है। दो हाथों को गर्म और सर्द जल में रखें। फिर दोनों को एक ही पात्र के पानी में डालें। जल एक हाथ को गर्म, और दूसरे को सर्द लगेगा। यह भेद वस्तुगत जल के सम्बन्ध में होता है; व्यक्ति के अपने अनुभव की बाबत तो उसे सन्देह हो ही नहीं सकता। जब मैं कहता हूं कि मैं भयभीत हो रहा हूं, तो कोई दूसरा मुझे यह विश्वास नहीं दिला सकता कि मैं भयभीत नहीं हूं। वह यही कह सकता है कि मेरा भय निराधार है। सन्देहवाद को समाप्त करने का एक सुगम उपाय यह है कि वाह्य जगत को, जिसकी बाबत सन्देह होता है, सिरे से अस्वीकार कर दिया जाय। बर्कले ने इस रीति का प्रयोग किया।

बर्कले ने बाह्य जगत के ज्ञान को ज्ञान-इन्द्रियों के प्रयोग पर आधारित किया; सरल परीक्षण से सहायता ली; और इसमें भी व्यक्ति के परीक्षण को पर्याप्त समझा। अब इन साधनों को काफी नहीं समझा जाता। ज्ञान-इन्द्रियों की सहायता के लिए, या उनके स्थान में, यन्त्रों का प्रयोग होता है। अब हम स्पर्श से यह नहीं कहते कि ज्वर अधिक है, अपितु थर्मामिटर लगाकर कहते हैं कि ज्वर १०२·६ है। निरे परीक्षण का स्थान निरीक्षण ने ले लिया है। हम वही कुछ जानने पर संतोष नहीं करते जो कुदरत हमें अपने आप दिखाती है, अपितु स्थिति को अपनी इच्छानुसार बदल कर, उससे निश्चित प्रश्न पूछते हैं। ज्ञान अब साझे की पूंजी बन गया है। एक ही प्रश्न को हल करने के लिए, अनेक स्थानों पर, अनेक निरीक्षक काम करते हैं। सन्देहवाद का खण्डन अब इतना सुगम नहीं, जितना बर्कले ने समझा था। विज्ञान की

उन्नति ही सन्देहवाद का खण्डन है। विज्ञान १००% निश्चय की आशा नहीं करता, परन्तु यह तो समझता ही है कि हम इसके निकट पहुंचते जाते हैं।

मानसी आत्मवाद ने जीवात्माओं को द्रव्य का पद दिया था। निरपेक्ष आत्मवाद ने इन्हें इस पद से वंचित कर दिया है। हमें कहा जाता है कि जो स्थिति जीवात्माओं के सम्बन्ध में चेतनावस्थाओं की है, वही स्थिति 'निरपेक्ष' के संबंध में जीवात्माओं की है। हम क्रियाशील नहीं: क्रिया कर्त्ता में होती है, अवस्थाओं में नहीं होती। कांट ने कहा था—'तुम्हें करना चाहिए, इसलिए तुम कर सकते हो।' हम इस वाक्य को कुछ बदल भी सकते हैं: 'तुम कर सकते हो, इसलिए तुम्हें करना चाहिए।' स्वाधीनता अपने साथ दायित्व लाती है। निरपेक्ष आत्मवाद हमें कर्मशीलता से वंचित कर देता है। इसका फल यह है कि न हमारा दायित्व रहता है, न आत्मिक उन्नति के लिए कोई गुंजाइश रहती है। जो लोग मानव का तत्व उसकी स्वाधीनता और नैतिक दायित्व में समझते हैं, उनके लिए निरपेक्ष आत्मवाद मान्य नहीं हो सकता।

# द्वैतवाद

## १. द्वैतवाद के रूप

तर्क के उत्थान में द्वैतवाद ने कई रूप धारण किये हैं। शायद सबसे पुराना रूप वह है जिसका वर्णन पारसियों की धर्म पुस्तक 'जेंदावस्था' में मिलता है। पारसी धर्म के संस्थापक जरथुष्ट्र का मत था कि प्रत्येक वस्तु में नेकी और बुराई, भद्र और अभद्र दो विरोधी तत्व मिले हुए हैं; इस नियम से अहरमज्द (परमात्मा) भी बचा नहीं। पीछे इन दोनों तत्वों को अलग करके इन्हें स्वतन्त्र अस्तित्व दिया गया। नये विचार के अनुसार नेकी और बुराई दो पृथक और स्वतन्त्र तत्व हैं। स्थूल आकार में इन्हें अहरमज्द और अहिरमान (परमात्मा और शैतान) कहा जाता है। इन दोनों में निरन्तर संघर्ष जारी है। अन्त में अहरमज्द की विजय होगी, और इस के साथ ही सृष्टि का भी अन्त हो जायगा, क्योंकि सृष्टि इन दोनों तत्वों के संघर्ष का आविष्कार ही है।

द्वैतवाद का दूसरा रूप सत्ता और प्रकटनों का भेद है। अफलातूं ने इस द्वैत पर बहुत बल दिया; यही उसके सिद्धान्त में मौलिक प्रत्यय है। अफलातूं ने सत्ता को प्रत्ययों की दुनिया में देखा। जिस जगत में हम रहते हैं, वह प्रकटनों की दुनिया है। जितने घोड़े हमें दिखायी देते हैं, या दिखायी दिये हैं, वे सब 'विशेष' पदार्थ हैं, और घोड़े के 'प्रत्यय' की नकलें हैं। वह प्रत्यय ही अकेला 'सामान्य' है। यही हाल अन्य पदार्थों का है। दृष्य जगत भास या दीप्तिमात्र है। इस विचार के अनुसार प्रकटन भी सत्य हैं, यद्यपि इनकी सत्ता द्रव्य की अपेक्षा निचले दर्जे की है। कुछ विचारकों के मत में सत्ता और प्रकटन का भेद समस्त और उसके कटाव या प्रकरण का भेद है। प्रकटन भी पूरे अर्थों में सत्ता है, यद्यपि यह अल्प सत्ता है।

नवीन काल में द्वैत ने पुरुष और प्रकृति के भेद का रूप ग्रहण किया है। सत्ता के ये दोनों स्वतन्त्र तत्व हैं। जो कुछ भी दिखायी देता है, वह इन दोनों के गुण-कर्म का प्रकाश है। यह द्वैत ही वर्त्तमान अध्याय के विचार का विषय है।

## २. डेकार्ट का द्वैतवाद

डेकार्ट को नवीन दर्शन का पिता कहा जाता है। जैसा हम देख चुके हैं, उसके विचार में आत्मा का अस्तित्व तो सन्देह का विषय ही नहीं हो सकता। स्वयं सन्देह ही आत्मा के अस्तित्व को असन्दिग्ध बना देता है। 'मैं चिन्तन करता हूं; इसलिए मैं हूं।' डेकार्ट ने इससे आगे बढ़ने के लिए नियम बनाया कि 'जो प्रत्यय पूर्ण रूप में स्पष्ट हो, वह सत् का सूचक है।' उसने देखा कि प्रकृति या प्रत्यय ऐसा प्रत्यय है। इसलिए उसने प्रकृति की सत्ता को भी स्वीकार किया। डेकार्ट ने पुरुष और प्रकृति में जाति-भेद देखा; और यह भेद इतना बड़ा था कि वह इनमें किसी प्रकार के सम्बन्ध की सम्भावना को समझ नहीं सका। परन्तु यह सम्बन्ध हमारे दैनिक अनुभव की साक्षी पर निर्धारित है; और इसे स्वीकार करना ही पड़ता है।

डेकार्ट के समय में भौतिक विज्ञान यन्त्र-विद्या तक ही सीमित था। डेकार्ट के लिए स्वाभाविक था कि वह प्राकृत जगत और मनुष्य के शरीर को यन्त्र के रूप में और आत्मा को यन्त्री के रूप में देखे। डेकार्ट के दृष्टि-कोण का एक फल यह हुआ कि विज्ञान ने यन्त्र को अपने अध्ययन का विषय बनाया, और दर्शन-शास्त्र ने यन्त्री की ओर ध्यान देना आरम्भ किया। डेकार्ट के समय के बाद शरीर-शास्त्र और प्राण-शास्त्र प्रकट हुए। इन्होंने स्थिति को कुछ बदल दिया है, और अब फिर विज्ञान और दर्शन निकट आ रहे हैं।

## ३. लाक और कांट

डेकार्ट ने चिन्तन को अपने विवेचन का आधार बनाया था। इसमें उसने तत्व-ज्ञान की परम्परा को अंगीकार किया था। लाक ने अपने लिए एक नया पथ चुना। उसने ज्ञान को अपने विश्लेषण का विषय बनाया और कहा कि हमारा सारा ज्ञान बाहर से प्राप्त अनुभव पर निर्भर है। परन्तु ज्ञान हमारा है, और हम प्राप्त अनुभव पर चिन्तन करते हैं, और इसमें जोड़-तोड़, संयोग-विभाग, करके अपने अनुभव को विस्तृत करते हैं। हम आत्मा और अनात्मा, पुरुष और प्रकृति, दोनों को मानने पर विवश हैं।

कांट ने इस विचार को और आगे बढ़ाया, और अपनी प्रमुख पुस्तक के पहले वाक्य में ही कहा कि हमारा सारा ज्ञान अनुभव से आरम्भ होता है, परन्तु अनुभव पर ही निर्धारित नहीं। हमें ज्ञान की सामग्री बाहर से मिलती है, परन्तु उसे आकृति देना हमारे मन का काम है। प्रकृति और मन के सहयोग से ही ज्ञान उत्पन्न होता

है। कांट ने अपने द्वैतवाद में सन्देहवाद को भी मिला दिया; परन्तु वह अंश हमारे वर्तमान विषय से असंगत है।

लाक ने यह तो कहा कि हमारा ज्ञान हमें बाहर से प्राप्त होता है परन्तु साथ ही यह भी कहा कि हम इसके गुणों के अतिरिक्त प्रकृति के स्वरूप की बाबत कुछ नहीं जान सकते। प्रकृति और आत्मा दोनों के सम्बन्ध में कांट की धारणा ऐसी ही थी। यह दोनों 'स्वयं-सत्' हैं, और हमारे अनुभव की पहुंच से बाहर हैं। यह होते हुए भी लाक और कांट दोनों द्वैतवादी थे।

अपने उत्थान के पहिले दौरे में, विज्ञान ने जगत और मनुष्य को एक यन्त्र के रूप में देखा। वैज्ञानिकों का मत प्रायः प्रकृतिवाद था। अब अवस्था बदल गयी है। इसका बड़ा कारण प्राणविद्या, मनोविज्ञान और मानवी विद्याओं का उत्थान है। भौतिक विज्ञान के प्रसिद्ध प्रवक्ता सर जेम्स जीन्स ने कहा है कि 'वैज्ञानिक अध्ययन का वास्तविक विषय विश्व (नेचर) की वास्तविक स्थितियां नहीं हो सकतीं; जो टिप्पणियां हम नेचर की बाबत करते हैं, वही अध्ययन के विषय हैं।' सत्ता के स्वरूप की बाबत, जीन्स का मत यह है—'अधिक से अधिक हम यही कह सकते हैं कि विविध युक्तियों का सम्मिलित परिणाम ऐसा प्रतीत होता है कि सत्ता का मानसी विवरण अमानसी विवरण से अधिक उपयोगी है।

अब वैज्ञानिक यह नहीं समझते कि आत्मवाद मर चुका है, और दबा भी दिया गया है। अब तो उनकी चिन्ता यह है कि प्रकृति का अस्तित्व सन्देह से बचा रहे। एडिंग्टन कहता है :—

'मेरी चेतना की सामग्री ही अकेला विषय है, जो मेरे अध्ययन के लिए प्रस्तुत होता है। तुम अपनी चेतना के कुछ भाग का ज्ञान मुझे दे सकते हो, और इस तरह यह भाग मेरी चेतना में भी प्रविष्ट हो जाता है। उन हेतुओं की नींव पर, जो आमतौर पर माने जाते हैं, मैं तुम्हारी चेतना को भी अपनी चेतना के बराबर का पद देता हूं, और इस गौण चेतना की सहायता से, मैं अपने आपको तुम्हारी स्थिति में रख सकता हूं। इस तरह, मेरे अध्ययन का विषय एक नहीं, अनेक चेतनाएं बन जाती हैं। इन चेतनाओं में से प्रत्येक चेतना एक अलग 'दृष्टि-कोण' है। अब इन दृष्टि-कोणों को सम्मिलित करने की समस्या खड़ी हो जाती है; और इसके द्वारा ही भौतिक विज्ञान की दुनिया व्यक्त होती है। जो कुछ किसी एक चेतना में है, उसका बड़ा भाग विशिष्ट होता है, और ऐसा प्रतीत होता है कि व्यक्ति की इच्छा से बदल सकता है।

[1] **सर जेम्स जीन्स : फिजिक्स एंड फिलोसोफी**

परन्तु एक स्थायी भाग ऐसा भी है, जो सब चेतनाओं के लिए सांझा है।. . . .यह सांझा भाग किसी विशेष व्यक्ति की चेतना में स्थापित नहीं हो सकता : यह तटस्थ भूमि में होना चाहिए—अर्थात् एक बाहर की दुनिया में।

यह सत्य है कि दूसरे चेतन प्राणियों के सम्पर्क के बिना भी मुझे पक्का विश्वास है कि प्राकृत जगत मौजूद है, परन्तु ऐसे सम्पर्क के बिना मेरे पास कोई हेतु इस विश्वास को सत्य मानने के लिए मौजूद नहीं।"[1]

इस तरह एडिंग्टन प्रकृति की दुनिया को एक आत्मा पर ही नहीं, अनेक आत्माओं के सहयोग पर निर्धारित करता है। पुराने प्रकृतिवादी इसे सुनें, तो कब्रों में घबरा कर लोटने लगें।

## ५. सांख्य का द्वैतवाद

भारत के दर्शनों में, सांख्य ने द्वैतवाद का बलपूर्वक समर्थन किया है। सत्ता के दो अन्तिम तत्व 'पुरुष' और 'प्रकृति' हैं। मूल प्रकृति को 'अव्यक्त' का नाम दिया गया है। अव्यक्त रूप-विहीन है। पुरुष की दृष्टि पड़ने पर इसमें परिवर्तन होता है, और यह परिवर्तन होता ही रहता है। इस परिवर्तन का कारण प्रकृति में भी विद्यमान है। यह एकरस नहीं, अपितु तीन गुणों का समन्वय है। इन गुणों को सत्व, रजस् और तमस् का नाम दिया गया है। कुछ लोग इन तीनों को विशेषण या धर्म नहीं, अपितु प्रकृति के भाग समझते हैं। हर हालत में, जब तक इन गुणों में सामंजस्य बना रहता है, प्रकृति अव्यक्त दशा में रहती है; जब यह सामंजस्य टूटता है, तो विकार का आरम्भ होता है। इन तीन गुणों का प्रभुत्व बढ़ता-घटता रहता है, परन्तु यह रहते सदा साथ ही हैं। व्यक्त प्रकृति भोग्य या विषय है; यह अचेतन है और क्रियाशील है।

पुरुष एक नहीं, अनेक हैं। पुरुष-बहुत्व सांख्य सिद्धान्त में एक प्रमुख विषय है।

वर्तमान में सांख्य-सिद्धान्त पर जो पुस्तकें मिलती हैं, उनमें ईश्वर कृष्ण की 'सांख्य कारिका' वा 'सांख्य सप्तति' बहुत प्रसिद्ध है। कारिका ११ में व्यक्त के निम्न गुण बताये हैं :—

(१) इसके तीन गुण हैं।
(२) यह तीन गुण अलग नहीं हो सकते; सदा इकट्ठे रहते हैं।
(३) व्यक्त विषय या भोग्य है।

[1] ए० एस० एडिंग्टन : नेचर आव दि फिजिकल वर्ल्ड

(४) यह सब पुरुषों का सांझा भोग्य है।

(५) परिवर्तन इसका स्वभाव है।

'व्यक्त' भोग्य है; पुरुष भोक्ता है। यह सब भोक्ताओं का सांझा भोग्य है। यह ख्याल वही है, जिसे एडिंग्टन ने जाहिर किया है। उसके ख्याल में भी, बाहर की दुनिया वह स्थायी विषय है, जो 'इस' या 'उस' चेतना का निजी विषय नहीं, अपितु सारी चेतनाओं का सांझा विषय है।

पुरुष में गुण नहीं, वह ज्ञाता या भोक्ता है, और नित्य है। जैसा हम देख चुके हैं, मानसी आत्मवाद के अनुसार 'प्राकृत पदार्थों का अस्तित्व उनके अनुभूत होने में है।' जो पदार्थ किसी के ज्ञान का विषय नहीं, वह है ही नहीं। सांख्य इसका खण्डन करता है, और इस तरह प्रकृति को अमानसी सत्ता देता है। कारिका ७ में बताया है कि किन-किन हालतों में कोई पदार्थ, वस्तुगत सत्ता रखते हुए भी अनुभव का विषय नहीं बनता। कारिका ऐसी अनुपलब्धि के निम्न कारण बयान करती है :—

(१) पदार्थ का अति दूर होना।

अगणित तारे आकाश में विद्यमान हैं, जिन्हें हमारी आंखें यन्त्रों की सहायता से भी देख नहीं सकतीं; परन्तु उनका अस्तित्व प्रमाणित हो चुका है।

(२) अति निकट होना।

हमें आंख में पड़ा काजल दिखाई नहीं देता।

(३) इन्द्रिय की हानि।

अन्धा देखता नहीं; बहरा सुनता नहीं।

(४) मन की घबराहट।

भयभीत पुरुष निकट पड़े पदार्थ को नहीं देखता।

(५) सूक्ष्म होना।

खांड कटोरे में डालें, तो रसना उसे चखती है। उसी खांड को बड़े मटके में डालें, तो रसना को उसका पता नहीं लगता, परन्तु खांड पानी में विद्यमान तो है।

(६) किसी आड़ का बीच में आ जाना।

(७) अन्य पदार्थों में दब जाना।

दिन के समय तारे नहीं दिखायी देते क्योंकि उनके मुकाबले में सूर्य का प्रकाश बहुत तीव्र होता है।

(८) एक रूप हो जाना।

हरी घास में हरा कीड़ा दिखाई नहीं देता।

कारिका में बताया गया है कि प्रत्यक्षीकरण का विश्लेषण आत्मवाद के इस दावे को झुटलाता है कि पदार्थों का अस्तित्व उनके उपलब्ध या ज्ञात होने में है।

## ६. स्वप्न और द्वैतवाद

दिन-रात के २४ घंटों में तीसरा भाग निद्रा में व्यतीत होता है; शेष समय कामकाज में गुजरता है। जागरण में हमारी ज्ञान और कर्म-इन्द्रियां काम करती हैं; निद्रा में यह विश्राम करती हैं। ज्ञान-इन्द्रियां हमें अलग-अलग गुणों का ज्ञान देती हैं : आंख रूप दिखाती है, रसना रस की बाबत बताती है, स्पर्श गर्मी-सर्दी का बोध देता है। इन सब बोधों को मिला कर किसी पदार्थ का प्रत्यक्ष कराना मन का काम है। जागरण में मन अपने काम में लगा रहता है। इसके फलस्वरूप हमें अकेले गुणों का बोध नहीं होता; पदार्थों का ज्ञान होता है। निद्रा में मन भी इन्द्रियों की तरह आराम करता है, या इसका काम जारी रहता है?

डेकार्ट ने कहा था कि प्रकृति का गुण विस्तार है, और मन का गुण चिन्तन है। कोई प्राकृत पदार्थ विस्तार रहित नहीं हो सकता; और मन कभी भी चिन्तन-विहीन नहीं होता। यदि यह सत्य है, तो मन का चिन्तन जागरण के अनन्तर बना रहता है। निद्रा की अवस्था में मन की क्रिया को स्वप्न कहते हैं। यदि निद्रा का सारा समय स्वप्न में नहीं बीतता, तो भी कुछ समय तो बीतता ही है।

स्वप्न और जागरण में भेद क्या है? एक भेद की ओर तो ऊपर संकेत किया गया है—जागरण में हमारी इन्द्रियां काम करती रहती हैं, स्वप्न में काम नहीं करतीं। एक दूसरा भेद यह है कि जागरण में हम सांझे, सामान्य या पब्लिक जगत में रहते हैं; स्वप्न में हम वैयक्तिक, विशेष या निजी जगत में रहते हैं। एक कमरे में दस पुरुष सोये हों और स्वप्न देखते हों, तो उन सब के स्वप्न भिन्न-भिन्न होंगे। वह जाग पड़ें, तो सब कमरे के एक ही सामान को देखेंगे, और एक दूसरे में विचारों का अदल-बदल भी कर सकेंगे।

यह मनोविज्ञान का ख्याल है। मनोविज्ञान फर्ज कर लेता है कि मनुष्यों के शरीर हैं, उनकी इन्द्रियां हैं; कमरे हैं, और उनमें सामान है। हमें यह समझने का यत्न करना चाहिए कि इनका ज्ञान हमें कैसे होता है। दर्शन के कोश में 'फर्ज' शब्द मिलता ही नहीं। यह तो विवेचन कर के जानना चाहता है कि हमारे इन विश्वासों का कुछ आधार भी है या नहीं।

अद्वैतवाद कहता है कि प्राकृत जगत, जिसमें शरीर और इन्द्रियां भी सम्मिलित हैं, कल्पना-मात्र है; द्वैतवाद इस जगत की अमानसी सत्ता को मानता है। दोनों

चेतना के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। अद्वैतवाद कहता है कि जहां तक चेतना का सम्बन्ध है, वह जागरण और स्वप्न में एक जैसी है। दोनों में प्रतीत होता है कि हम अन्य मनुष्यों के साथ व्यवहार करते हैं, और इस व्यवहार में अमानसी पदार्थों का भी दखल होता है। स्वप्न निरा मन का खेल है। जागरण में अमानसी सत्ता को भी फर्ज किया जाता है। दर्शन और विज्ञान दोनों इसमें सहमत हैं कि जहां सरल समाधान से काम चल सके वहां असरल या पेचीले समाधान को अस्वीकारना चाहिए। अद्वैतवाद कहता है कि स्वप्न को समस्त मानसिक जीवन का नमूना मान लें, तो प्रकृति का मानना आवश्यक नहीं रहता।

भारत में अद्वैतवाद ने अपने पक्ष को सिद्ध करने के लिए स्वप्न का सहारा लिया है। शंकराचार्य के दादा-गुरु गौडपाद ने अपनी कारिकाओं में इसी बात पर जोर दिया है कि, चेतना की स्थिति में, जागरण और स्वप्न में कोई भेद नहीं, और हम केवल चेतना के अस्तित्व को मानने में ही विवश हैं।

क्या द्वैतवाद अपने आपको इस आक्रमण से बचा सकता है?

अद्वैतवाद दो रूप धारण करता है—एकवाद और अनेकवाद। एकवाद का एक दिलचस्प रूप यह है कि मैं ही समस्त सत्ता हूं; शेष सब कुछ मेरे विचार हैं। इसे अंग्रेजी में 'सालिप्सिस्म' कहते हैं। मेरा मानसिक जीवन एक समान है। इसमें कुछ भेद नहीं पड़ता कि इसे जागरण कहते हैं या स्वप्न। हम जिसे जागरण कहते हैं, उसमें भी चित्त भ्रम या मूर्च्छा की हालत में हम स्वप्न की सी रचना कर लेते हैं। ऐसे एकवाद का कोई तार्किक खण्डन नहीं हो सकता। यह सम्भावना से बाहर नहीं कि मैं इस समय स्वप्न में ही लिख रहा हूं, और स्वप्न में ही आशा कर रहा हूं कि कोई इस लेख को पढ़ेगा। यदि हम आत्मिक अनेकवाद में विश्वास करें, तो स्थिति बदल जाती है। एक आत्मा और दूसरे आत्मा का सम्पर्क शरीर के द्वारा होता है, और शरीर प्रकृति का अंश है। इसके अतिरिक्त, जैसा एडिंग्टन और सांख्यकारिका ने कहा है, जब कई मन सम्पर्क में आते हैं, तो उनकी विशेष चेतनाओं के साथ, एक सांझी चेतना भी व्यक्त हो जाती है, और इस सांझी चेतना का आश्रय वस्तुगत जगत होता है।

गौडपाद कहता है कि जहां तक चेतना का सम्बन्ध है, जागरण और स्वप्न समान हैं; उनमें कोई भेद नहीं। इस दावे के मान्य वा अमान्य होने पर बहुत कुछ निर्भर है। हमारे ज्ञान में तीन अंश पाये जाते हैं—(१) इन्द्रियों से उपलब्ध ज्ञान, (२) कल्पना और (३) मनन वा बुद्धि का प्रयोग। जहां तक पहले अंश का सम्बन्ध है, दोनों में समानता है। कल्पना भी जागरण और स्वप्न दोनों में पायी जाती है; स्वप्न

में तो इसका प्रभुत्व होता है। बुद्धियुक्त मनन के सम्बन्ध में हम क्या देखते हैं? मैं यह लेख लिख रहा हूं। ५-६ मास में इसके समाप्त होने की आशा है। जो कुछ मुझे तीन मास के बाद लिखना है, उसका चित्र भी इस समय मेरे मन में मौजूद है। इसी प्रकार का आयोजन हम सब के जीवन के जागृत भाग में पाया जाता है। यह बुद्धियुक्त मनन का फल है। स्वप्न में हम क्या देखते हैं? मुझे स्वप्न में यह पता नहीं होता कि ५ मिनट के बाद मेरी कल्पना कहां पहुंची होगी; विशेष आयोजन के अनुसार कार्य का चलाना तो अलग रहा। बुद्धियुक्त मनन जागरण का प्रमुख चिह्न है; स्वप्न में यह न होने के बराबर है। जागरण और स्वप्न की समानता पर कहते हुए, गौडपाद ने इन्द्रिय-जनित अनुभव और कल्पना के मुकाबिले में बुद्धि को भुला ही दिया है। तर्क में तो बुद्धि को ही प्रमुख स्थान मिलता है। इस तरह, हम गौडपाद की इस धारणा को कि, चेतना होने की स्थिति में, जागरण और स्वप्न एक समान हैं, स्वीकार नहीं कर सकते। द्वैतवाद पर जो आक्रमण स्वप्न के बिन्दु से किया जाता है, वह इसे तोड़ नहीं सकता।

डेकार्ट ने चेतना और विस्तार को पुरुष और प्रकृति के सारभूत गुण बता कर यत्न किया कि दोनों द्रव्यों के आपसी सम्बन्ध को समझ सके। उसने आत्मा और शरीर में सम्पर्क का स्थान ढूंडना चाहा, और मस्तिष्क के एक भाग, पिनियल ग्लैंड, को ऐसा स्थान बताया। इस समाधान से किसी को सन्तोष नहीं हुआ। वास्तव में डेकार्ट के सामने प्रश्न आत्मा और प्रकृति के सम्बन्ध का था। उसने इसे संकुचित बना दिया, और प्राकृत जगत की जगह मनुष्य के शरीर को अपने सम्मुख रखा। ऐसा करना आवश्यक न था। यदि वह प्रश्न को सामान्य रूप में ही देखता, तो सम्भवतः उसकी कठिनाई कम हो जाती।

विकास में प्रकृति के एक टुकड़े ने विशेष प्रतिष्ठा का स्थान प्राप्त कर लिया है। यह टुकड़ा मनुष्य का शरीर है। मैं इसे प्रकृति के शेष भाग से अलग करता हूं। मैं यह कैसे करता हूं?

(१) प्रथम यह कि ज्ञान और कर्म के रूप में, वाह्य जगत से मेरा सम्पर्क शरीर के द्वारा होता है। ज्ञान इन्द्रियां मुझे बोध देती है; कर्म के इन्द्रियां मुझे जगत में परिवर्तन करने के योग्य बनाती हैं। अन्य आत्माओं के अस्तित्व का ज्ञान भी शरीर की सहायता से ही होता है। वे वाणी के प्रयोग से शब्द पैदा करते हैं; मैं कानों के प्रयोग से शब्द को सुनता हूं।

(२) वाह्य जगत का ज्ञान देने के लिए ज्ञान-इन्द्रियां काम करती हैं; परन्तु शरीर की अपनी अवस्था को जानने के लिए मैं शरीर को ही ज्ञान-इन्द्रिय बनाता

हूं। मुझे भूख-प्यास लगती है; पेट में दर्द होता है। इन अवस्थाओं का ज्ञान आंख, कान, रसना आदि से नहीं होता; स्वयं शरीर ही यह सूचना देता है। मेरे सुख-दुःख से तो प्रकृति के इस भोग का विशेष सम्बन्ध है। जो दुःख मुझे अपना मेदा खाली होने से होता है, वह किसी और के मेदे के खाली होने से नहीं होता।

(३) मैं जहां कहीं भी जाता हूं, मेरा शरीर मेरे साथ होता है। रात को सोते समय मैं अपनी ऐनक उतार कर मेज पर रख देता हूं; नाक या कान को उतार कर नहीं रख सकता। नाक और कान मेरे शरीर के अंग हैं; ऐनक अंग नहीं।

(४) ज्ञान-इन्द्रियों में हम त्वचा पर सब से अधिक भरोसा करते हैं। एक कहावत के अनुसार 'देखना ही विश्वास करना है; त्वचा असली चीज है।' त्वचा दो रूपों में प्रकट होती है—सक्रिय और निष्क्रिय। जब मैं मेज पर हाथ फेरता हूं, तो मैं एक प्रकार का स्पर्श अनुभव करता हूं; जब कोई कीड़ा मेरे माथे पर बैठ कर चलने लगता है, तो मेरा स्पर्श दूसरे प्रकार का होता है। वाह्य जगत में जितने पदार्थ हैं, उनके सम्बन्ध में मेरा स्पर्श एक या दूसरे प्रकार का होता है। जब मैं अपने माथे पर हाथ रखता हूं, तो मुझे सक्रिय और निष्क्रिय दोनों प्रकार के स्पर्श का बोध होता है। यह दुहरा स्पर्श केवल अपने शरीर के सम्बन्ध में ही हो सकता है। मनोविज्ञान की दृष्टि में, यह बोध शरीर की सीमाओं को निश्चित करने का अन्तिम साधन है।

शरीर के साथ मेरा गहरा सम्बन्ध तो बात-बात में प्रकट होता है। 'मैं घूमने जा रहा हूं'; 'मैं थका हुआ हूं'; 'मेरा नया जूता कुछ तंग है'। इन वाक्यों में मैं मन और शरीर में भेद ही नहीं करता। तथ्य यह है कि हम वाह्य जगत की सत्ता को स्वीकार करें या न करें, हम अपने शरीर की सत्ता को स्वीकार करते ही हैं। डेकार्ट ने भूल से आत्मा और प्रकृति के सम्पर्क-स्थान को शरीर के किसी गुप्त भाग में देखना चाहा। वास्तव में सारा शरीर ही यह सम्पर्क-स्थान है। शरीर में आत्मा और अनात्मा का मेल होता है।

मनुष्य का शरीर द्वैतवाद का प्रबल समर्थक है।

## ८. नवीन वास्तववाद

शरीर के महत्व को बर्टरैण्ड रस्सल ने एक नये रूप में पेश किया है। रस्सल के विचार में द्वैतवाद की कठिनाइयां दूर नहीं, तो कम हो जाती हैं, यदि हम प्रकृति के स्वरूप की बाबत प्रचलित विचारों में कुछ परिवर्तन कर लें।

डेकार्ट ने पुरुष और प्रकृति दो भिन्न द्रव्यों को स्वीकार किया था, यद्यपि वह

यह स्पष्ट नहीं देख सका था कि इन दोनों का सम्पर्क कैसे होता है। लाक ने प्रकृति को उसके अप्रधान गुणों से वंचित कर दिया; बर्कले ने प्रधान गुणों को भी मानसी बताया। इन तीनों विचारकों के मत में एक समानता थी; वे समझते थे कि गुण किसी द्रव्य में ही स्थित होते हैं, और द्रव्य स्थायी होता है। डेकार्ट ने सभी गुणों को प्रकृति में देखा; लाक ने केवल प्रधान गुणों को प्रकृति में देखा; बर्कले ने प्रधान और अप्रधान, सभी गुणों को मन में देखा। रस्सल बर्कले से इस बात में तो सहमत है कि रूप, रंग, शब्द आदि किसी स्थायी प्राकृत द्रव्य में नहीं; परन्तु बर्कले की तरह वह यह नहीं मानता कि यह बाहर नहीं, हमारे अन्दर हैं। वह कहता है कि हम द्रव्य और गुण के पदों में चिन्तन करना छोड़ दें, और केवल इन्द्रिय-लब्धों का वर्णन करें। इन लब्धों के अस्तित्व की बाबत तो कोई विवाद नहीं; विवाद का विषय यह है कि वे हमारे अन्दर हैं, या बाहर हैं। रस्सल कहता है कि हम इन इन्द्रिय-लब्धों को प्रकृति के अंश मान लें। जो लब्ध मेरे ज्ञान का विषय हैं, वह सम्भवतः उसी समय तक वास्तविक होंगे, जब तक मेरे ज्ञान-इन्द्रिय उन्हें उपलब्ध करते हैं। मेरे इन्द्रिय-उपलब्ध वही नहीं, जो मेरे पड़ोसी के उपलब्ध हैं। वास्तव में हममें हरएक की अपनी प्राकृत दुनिया है, और वह इन उपलब्धों से बनी है। प्रकृति इन अस्थायी उपलब्धों का ही संग्रह है। जो बात निस्संदेह है, वह यह है कि ये उपलब्ध मन के बाहर हैं। बर्कले ने इन्हें मन के अन्दर स्थित करने में भूल की थी। बर्कले की दलील यह थी—'मुझे अग्नि अपने बाहर प्रतीत होती है। जब मैं इसके निकट जाता हूं, तो मुझे गर्मी लगती है और पीड़ा होती है। गर्मी और पीड़ा दोनों एक साथ अनुभूत होती हैं। इसमें तो किसी को सन्देह नहीं कि पीड़ा अग्नि में नहीं, मन में है। इसलिए गर्मी भी, जिसे हम अग्नि में अनुभव करते हैं, हमारे बाहर, अग्नि में नहीं, अपितु हमारे अन्दर मन में है।

रस्सल कहता है, गर्मी हमें अग्नि में अनुभूत नहीं होती, अपने शरीर में अनुभूत होती है। हम पीछे अनुमान करते हैं कि यह अग्नि में है। अग्नि और मन के दरमियान और उनसे अलग हमारा शरीर भी है। गर्मी अग्नि में न हो, तो इससे यह नतीजा नहीं निकलता कि यह मन में है।

रस्सल अपने विचार को सिद्धान्त या मत के रूप में नहीं, अपितु प्रतिज्ञा, कल्पना के रूप में प्रस्तुत करता है। इतना तो स्पष्ट ही है कि उसका झुकाव द्वैतवाद के पक्ष में है। द्वैतवाद व्यावहारिक-ज्ञान का मत है। रस्सल इसका समर्थन करना चाहता है।

तृतीय भाग

# विराट-विवेचन

# भूमण्डल की रूपरेखा

## १. विविध दृष्टिकोण

मैक्समूलर ने कहा है कि जब कोई पुरुष, जो वर्षों से दुनिया को देखता रहा है, अचानक ठहर जाता है, दुनिया पर टकटकी लगाता है, और पुकार उठता है—'तुम क्या हो ?' तो उसी समय उसके मन में तत्व-ज्ञान जन्म ले लेता है। इसी ख्याल को प्रकट करने के लिए कहा गया है कि आश्चर्य विवेक का जनक है। हम भी भूमण्डल पर टकटकी लगायें, और इससे पूछें—'तुम क्या हो ?'

भूमण्डल इस प्रश्न का उत्तर सब पूछने वालों को एक सा नहीं देता। प्रश्न पूछने वालों को हम तीन श्रेणियों में बांट सकते हैं—

(१) वह लोग जिनके लिए व्यावहारिक ज्ञान पर्याप्त होता है। वे बाहरी तल को देखते हैं; बहुत गहरे नहीं जाते।

(२) वह लोग जो वैज्ञानिक दृष्टि से देखना चाहते हैं। वे गहरे तो जाते हैं, परन्तु, एक विशेष दृष्टिकोण से देखने के कारण, उनका आलोकन एक अंशी होता है।

(३) वह लोग जो गहरा देखते हैं, और साथ ही अपने दर्शन को सर्वांशी भी बनाना चाहते हैं। ये दार्शनिक हैं।

जो उत्तर इन तीनों श्रेणियों के लोगों को मिलते हैं, उन्हें देखें।

## २. व्यावहारिक ज्ञान का पक्ष

(१) मैं अपने आपको अनेक वस्तुओं से घिरा देखता हूं।

कुर्सी पर बैठा लिख रहा हूं। सामने एक कुत्ता सोया है; परे घास, फूल, और वृक्ष हैं। मकान के बाहर से आवाज आती है। ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ बालक सड़क पर खेल रहे हैं।

(२) जिन वस्तुओं से मैं अपने आपको घिरा पाता हूं, वे असंख्य हैं। परन्तु उनमें समानता भी दिखाई देती है। इस समानता की नींव पर, मैं उन्हें वर्गों या श्रेणियों में देखता हूं।'

जो कुछ ज्ञात होता है, उसमें तीन भाग प्रमुख दिखायी देते हैं :—

जड़ या अजीव पदार्थ,

सजीव पदार्थ,

चेतन पदार्थ।

जड़ पदार्थ केवल प्रकृति के अंश हैं; सजीव पदार्थों में प्रकृति और जीवन संयुक्त हैं; चेतन पदार्थों में प्रकृति, जीवन और चेतना—तीनों एक साथ मिलते हैं। प्रकृति से अलग हम न जीवन को और न चेतना को ही कहीं देखते हैं।

(३) जितनी वस्तुएं हमारे ज्ञान का विषय हैं, वे एक दूसरे से सम्बद्ध हैं। वे सब एक ही अवकाश में विद्यमान हैं : कोई यहां, कोई वहां। इस 'संयोग' के अतिरिक्त यह भी प्रतीत होता है कि वे एक दूसरे की ओर उदासीन नहीं; वे एक दूसरे पर क्रिया और प्रतिक्रिया करती हैं। इसका सब से प्रसिद्ध दृष्टान्त आकर्षण का नियम है। ब्रह्माण्ड में प्रत्येक परमाणु अन्य सभी परमाणुओं को अपनी ओर खींचता है, और उनसे खींचा जाता है। हमारे ज्ञान, उद्वेग और क्रिया में, मन और प्रकृति सम्पर्क में आते हैं।

(४) परिवर्तन भूमण्डल का व्यापक सा चिह्न प्रतीत होता है।

प्राकृत पदार्थों में टूटना-फूटना और बनना चलता ही रहता है। सूर्य की गर्मी से समुद्र का जल भाप बनता है। भाप ऊंचाई पर पहुंच कर ठण्ढी होती है, और पानी बन कर फिर समुद्र में जा पहुंचती है। पहाड़ टूटते हैं, नदियों में बह कर उनके अंश समुद्र में पहुंचते हैं, और वहां नये पहाड़ बनते हैं। सजीव पदार्थों में परिवर्तन वृद्धि का रूप धारण करता है। ऐसे पदार्थों में वृद्धि के साथ यह भी देखते हैं कि विविध अंग एक ही उद्देश्य की पूर्ति के लिए काम करते हैं।

(५) जीवित पदार्थों की बाबत हम एक विचित्र बात देखते हैं : जीवन हर एक हालत में अपने आपको सुरक्षित रखना चाहता है। वृक्ष जड़ प्रकृति को सजीव प्रकृति में बदल सकते हैं। चेतन प्राणी, जिनमें जीवन ऊंचे स्तर पर प्रकट होता है, ऐसा नहीं कर सकते। उनकी हालत में जीवन जीवन पर पलता है। वे या तो वनस्पति पर गुजारा करते हैं, या एक दूसरे को अपना आहार बनाते हैं। वे चल देने से पहले अपने जैसे अन्य प्राणियों को पैदा कर देते हैं। सन्तान-उत्पत्ति भी वास्तव में व्यक्ति की वृद्धि ही है। मनुष्यों में व्यक्ति का जन्म माता-पिता के संयोग से होता है। इससे व्यक्ति को पिछली नसल के दो व्यक्तियों की प्रकृति से चुनने का अवसर मिलता है। यह उन्नति का बड़ा साधन है।

# ३. विज्ञान की दुनिया

विज्ञान की प्रमुख शाखा भौतिक विज्ञान है। कहा जाता है कि अन्य शाखाएं वास्तव में भौतिक विज्ञान के अनुरूपक ही हैं। भौतिक विज्ञान की दृष्टि में, जो कुछ इसके अध्ययन का विषय हो सकता है, वही भूमण्डल है। यदि कोई सत्ता ऐसी है, जो इस अध्ययन का विषय नहीं बन सकती, तो विज्ञान के लिए दो मार्ग खुले हैं—या तो उसके अस्तित्व से इन्कार कर दें, या यह कह दे कि उसे ऐसी सत्ता से कोई वास्ता नहीं। कुछ वैज्ञानिक एक मार्ग को अपनाते हैं; कुछ दूसरे मार्ग को। इस तरह विज्ञान की बाबत पहली बात ध्यान में रखने की यह है कि विज्ञान, अपने काम के लिए, सत्ता में से जो कुछ आवश्यक समझता है, अलग कर लेता है, और उसी पर अपना ध्यान लगाता है। चूंकि सारे वैज्ञानिक एक प्रकार से ही पृथक्करण नहीं करते, परिणाम यह होता है कि भूमण्डल के रंग-रूप की बाबत पर्याप्त मतभेद हो जाता है। कुछ समय पहले समझा जाता था कि वैज्ञानिक के हाथ में एक अच्छा कैमेरा है। वह प्लेट को प्रकाश के सामने करता है, और सत्ता अपना ठीक चित्र उस पर अंकित कर देती है। ग्लैडस्टन कहा करता था कि कैमेरा कभी झूठ नहीं बोलता। इस विचार ने विज्ञान के लिए सर्वसाधारण के मन में अपार श्रद्धा पैदा कर दी। अब स्थिति बदल गयी है। वैज्ञानिक आप ही समझने लगे हैं कि वे फोटोग्राफर नहीं, चित्रकार हैं। पहले कहा जाता था कि विज्ञान जो कुछ कहता है, परीक्षण और निरीक्षण के आधार पर कहता है। अब जो कुछ देखा जाता है, उसका समाधान करने के लिए नैयायिक रचनाएं रची जाती हैं; और उन्हें सत्ता स्वीकार किया जाता है। परिणाम यह है कि दैनिक व्यवहार की दुनिया और वैज्ञानिक कल्पना की दुनिया में कोई समानता नहीं रहती।

दोनों दुनियाओं में प्रमुख भेद ये हैं :—

(१) व्यावहारिक ज्ञान के लिए, भूमण्डल का प्रमुख पहलू इसका नानात्व है। अनेक पदार्थ विद्यमान हैं, जिन्हें उनके गुणों की नींव पर एक दूसरे से अलग किया जाता है। विज्ञान रूप, रस आदि अप्रधान गुणों के वस्तुगत अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता; परिमाण, आकृति, और गति के अस्तित्व को मानता है। परमाणुवाद, जो अभी तक विज्ञान का प्रिय सिद्धान्त रहा है, मानता है कि परमाणुओं में परिमाण और आकृति हैं, और वे गति करते हैं। पहले कहा जाता था कि परमाणु ठोस है, सरल है, और अखण्ड है। अब कहा जाता है कि परमाणु भी एक प्रकार का सौर्य-मण्डल है, जिसमें एक केन्द्र के गिर्द कुछ इलैक्ट्रान चक्कर लगाते रहते

हैं। यह वैज्ञानिकों के एक दल का मत है। दूसरा दल कहता है कि प्राकृत द्रव्य का कोई अस्तित्व नहीं; केवल शक्ति या 'एनर्जी' विद्यमान है। यह एनर्जी लहरों या तरंगों के रूप में प्रकट होती है। ये लोग प्रकृति और गति का कथन नहीं करते; केवल गति का कथन करते हैं।

रूप-रंग, रस, राग, सौंदर्य से भरे भूमण्डल का तत्व परमाणु और गति, या निरी लहरें हैं, जो आकाश में फैल रही हैं।

(२) व्यावहारिक ज्ञान पदार्थों के भेद की बाबत बताता है। भेद तो गुणों के आधार पर होता है। जब गुण ही नहीं, तो भेद कहां रहेगा? जड़, सजीव, और चेतन का भेद मौलिक नहीं। प्रकृति की गति में ही, एक खास अवस्था के पहुंचने पर, जीवन व्यक्त हो जाता है; और पीछे, एक अन्य अवस्था के पहुंचने पर, चेतना प्रकट हो जाती है। व्यावहारिक ज्ञान जीवन और चेतना को प्रमुख स्थान देता है; विज्ञान की दृष्टि में, ये दोनों आकस्मिक घटनाएं हैं; और किसी समय भी इनका अन्त हो सकता है। सीमित काल के लिए इनका विद्यमान होना कोई महत्व नहीं रखता।

(३) व्यावहारिक ज्ञान कहता है कि भूमण्डल के भाग एक दूसरे के कारण-कार्य सम्बन्ध से गठित हैं। विज्ञान इस सम्बन्ध को स्वीकार करता है, और विशेष स्थितियों में, ऐसे सम्बन्ध की खोज करना इसका प्रमुख काम है। कारण और कार्य के स्वरूप की बाबत बहुत मतभेद हैं।

साधारण पुरुष द्रव्य को कारण समझता है। दार्शनिकों में भी बहुतेरे इसी मत के हैं। हम कहते हैं—'सूर्य अपने तेज से बर्फ को पानी बना देता है; पानी को भाप बना देता है।' सूर्य कारण है; बर्फ या जल की अवस्था का परिवर्तन कार्य है।

जान स्टूअर्ट मिल ने, जो चिर काल तक विज्ञान का दार्शनिक समझा जाता रहा, कारण के प्रत्यय में से द्रव्य को निकाल दिया, और कहा कि कारण और कार्य दोनों घटनाएं हैं। उसके विचार में, जब एक घटना, हर हालत में, किसी अन्य घटना के पीछे प्रकट होती है, तो पहली घटना को कारण कहते हैं, और दूसरी घटना को कार्य कहते हैं। अगर ये दोनों शर्तें (सम्बन्ध की नित्यता, और अन्य स्थितियों से उदासीनता) पूरी हो जायं, तो यह सम्बन्ध सदा बना रहता है।

इस विवरण में कुछ कठिनाइयां हैं। दिन के पीछे रात्रि होती है, रात्रि के पीछे दिन होता है; परन्तु हम उन्हें एक दूसरे का कारण वा कार्य नहीं कहते। मिल इसके उत्तर में कहता है कि यदि पृथ्वी अपनी अक्षरेखा के गिर्द घूमना बन्द कर दे, तो दिन-रात का एक दूसरे के पीछे आना बन्द हो जायगा। यह क्रम पृथ्वी के घूमने पर

निर्भर है; इसलिए, यहां दूसरी शर्त पूरी नहीं होती। मिल की व्याख्या यह भी फर्ज करती है कि हम यह जानते हैं कि एक घटना कहां समाप्त होती है, और दूसरी कहां आरम्भ होती है, यह भी स्पष्ट नहीं।

अब विज्ञान में शक्ति या एनर्जी का प्रत्यय प्रधान है। कहा जाता है कि शक्ति की मात्रा बढ़ती-घटती नहीं; इसका रूप बदलता रहता है। विज्ञान के लिए अब क्रम या विधि की प्रधानता है। किसी क्रम के उत्थान में, पूर्व अवस्था को कारण कहते हैं, पीछे आनेवाली अवस्था को कार्य कहते हैं। वर्त्तमान अवस्था कारण भी है, और कार्य भी है। वास्तव में कारण कार्य में कोई भेद नहीं; हम अपनी सुगमता के लिए, ये रेखाएं खींचते हैं, और निरन्तर प्रवाह के टुकड़े करते हैं।

वैज्ञानिक कारण-कार्य सम्बन्ध में किसी प्रकार की अनिवार्यता नहीं देखते। हम एक क्रम को देखते आये हैं; इसलिए आशा करते हैं कि भविष्य में भी ऐसा होगा निश्चितता नहीं, अच्छी सम्भावना ही अनुभव की हुई व्यवस्था पर निर्धारित हो सकती है।

(४) विज्ञान ने इस धारणा से आरम्भ किया कि, इसके लिए, भूमण्डल उतना ही है जितना भौतिक-विज्ञान का विषय हो सकता है। भौतिक-विज्ञान की नींव इन्द्रियजन्य ज्ञान है। जीवन और चेतना के अस्तित्व से इन्कार तो हो नहीं सकता; इन्हें परमाणुओं की गति का परिणाम कह सकते हैं। १८ वीं और १९ वीं शतियों में यही विज्ञान का प्रिय मत था। शरीर विद्या को भौतिक-विज्ञान का, और मनो-विज्ञान को शरीर-विद्या का अंग समझा गया। अब प्राण-विद्या ने अपनी स्वतंत्रता की घोषणा करना आरम्भ किया है। प्राण-विद्या का अध्ययन करने वाले यह नहीं मानते कि भौतिक-विज्ञान और रसायन-विद्या के नियम जीवन का समाधान कर सकते हैं। उनमें कुछ तो कहते हैं कि समाधान में नीचे से ऊपर नहीं, अपितु ऊपर से नीचे की ओर चलना चाहिए। अगर दोनों प्रकार के नियमों में से चुनाव करना ही हो, तो प्राण-विद्या के नियमों को अपनाना चाहिए। प्रोफेसर हालडेन का ऐसा विचार है। वह कहता है कि सारा भूमण्डल एक 'सजीव संगठन' है, और इसका छोटे से छोटा भाग भी ऐसा संगठन है। प्रत्येक परमाणु समस्त के हित में काम करता है।

(५) जीवन की उत्पत्ति और इसके विस्तार के सम्बन्ध में वैज्ञानिकों में मत-भेद है। कुछ कहते हैं कि जीवन जीवन से ही उत्पन्न होता है; और आरम्भ में पृथ्वी पर किसी टूटते तारे के साथ आ पहुंचा, या आकाश में उड़ते प्राणी इसे यहां ले आये। बहुतेरे कहते हैं कि प्रकृति की गति में जीवन के उत्पादन की शक्ति है, और वे आशा लगाये बैठे हैं कि कभी इसे प्रयोगशाला में पैदा कर ही लेंगे।

## ४. दर्शन-शास्त्र का पक्ष

व्यावहारिक ज्ञान का काम देखना है। विज्ञान का प्रमुख काम देखना और देखे हुए को व्यवस्थित करना है। परन्तु यह समाधान को भी अपने सामने रखता है। दर्शन-शास्त्र परीक्षण की ओर उदासीन नहीं होता, परन्तु इसका प्रमुख काम समाधान करना है। इस समाधान का विषय मनुष्य का अनुभव ही है।

कठ उपनिषद् में कहा है कि हमारी ज्ञान-इन्द्रियां बाहर को खुलती हैं; इस-लिए, हम प्रायः वाह्य जगत को ही देखते हैं। कुछ लोग अपने अन्दर की ओर भी देखते हैं। दर्शन में 'अन्दर' और 'बाहर' के भेद को समझने का यत्न होता है। तत्व-ज्ञान भी भूमण्डल से पूछता है—'तुम क्या हो ?' भूमण्डल कोई स्पष्ट उत्तर नहीं देता। तत्व-ज्ञान पूछना बन्द नहीं करता। कुछ विचारकों के ख्याल में तो इसका प्रमुख काम प्रश्न पूछना ही है। अनेक प्रश्न पूछे जाते हैं; उनमें प्रमुख प्रश्न ये हैं :—

(१) हम 'अन्दर' और 'बाहर' में भेद करते हैं। बाहर कुछ है भी या दृष्ट-जगत कल्पना मात्र ही है ? हम इसकी बाबत कैसे जानते हैं ? और क्या जानते हैं ?

(२) यह 'जानना' क्या है ? ज्ञाता और ज्ञेय में क्या भेद है ?

(३) ज्ञाता और ज्ञेय के उस भाग में, जो ज्ञाता से निकटतम है, क्या सम्बन्ध है ?

दार्शनिक इन समस्याओं पर मनन करते हैं, और किसी निश्चित नतीजे पर नहीं पहुंचते। अन्य शब्दों में, मनन का काम कभी समाप्त नहीं होता; सदा जारी रहता है।

पहले प्रश्न के सम्बन्ध में, कुछ लोग कहते हैं कि हम वाह्य जगत को ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा जानते हैं, और उसे उसके वास्तविक रूप में जानते हैं। कुछ लोग इतनी दूर नहीं जाते। वे कहते हैं कि हम वाह्य पदार्थों को नहीं, अपितु उनके चित्रों या प्रति-बिम्बों को देखते हैं। असल हमारी पहुंच से बाहर है; हम नकल को ही जान सकते हैं।

इन दोनों विचारों के अनुसार, मन का काम कुछ देखना है; देखने की क्रिय में, दृष्ट वस्तु में परिवर्तन करना नहीं। एक तीसरे विचार के अनुसार मन जानने की क्रिया में ज्ञान के विषय को बदल देता है। इस परिवर्तन के बाद ही, ज्ञान-सामग्री ज्ञान बनती है। चौथा विचार तीसरे विचार से भी आगे जाता है, और कहता है कि हमारे ज्ञान का विषय बाहर है ही नहीं; मन अपनी अवस्थाओं की बाबत ही जान सकता है।

कुछ नवीन वस्तुवादी कहते हैं कि वाह्य जगत की सामग्री जिसे हम उसके असली रूप में देखते हैं, द्रव्य या द्रव्य के गुण नहीं; अपितु 'इन्द्रिय-उपलब्ध' हैं। सम्भवत: ये उपलब्ध प्रत्येक ज्ञाता के लिए भिन्न हैं। बर्ट्रैंड रस्सल ने इस प्रकार का विचार प्रस्तुत किया है।

दूसरी समस्या वाह्य जगत और आन्तरिक जगत के भेद की है।

बाहर की घटनाओं में हमें व्यवस्था या नियम की प्रधानता दिखाई देती है। 'प्रधानता' इसलिए कि व्यवस्था के साथ अव्यवस्था या अनियमितता का भाव भी दिखाई देता है। वैज्ञानिकों के विचारानुसार परमाणु भी अपनी गति में कभी-कभी मर्यादा का उल्लंघन कर देते हैं। जब हम अन्दर की ओर देखते हैं, तो हमें स्वाधीनता के दर्शन होते हैं। कांट ने कहा था—'प्राकृत पदार्थ नियम के अधीन चलते हैं; मनुष्य अपने आपको नियम के प्रत्यय के अधीन चलाने की योग्यता रखता है।' घटना और क्रिया में मौलिक भेद है : घटना होती है; क्रिया की जाती है। बाहर से दोनों एक प्रकार की दीखती है; स्वयं कर्त्ता अपनी क्रिया को निरी घटना के रूप में देख नहीं सकता।

मन और शरीर के सम्बन्ध की बाबत तत्व-ज्ञान क्या कहता है?

प्रकृतिवादी तो चेतना को प्रकृति के परिवर्तन का एक परिणाम ही समझते हैं। प्रत्येक मानसिक अवस्था किसी शारीरिक अवस्था का परिणाम है। इस मत के अनुसार मन और शरीर में कारण-कार्य सम्बन्ध तो है, परन्तु वह एक तरफ से ही है। केवल प्रकृति ही क्रियाशील है।

कुछ लोग मन और शरीर दोनों को क्रियाशील तो समझते हैं, परन्तु कहते हैं कि इन दोनों के क्रिया-क्षेत्र अलग हैं। हां, दैवयोग से इनमें समानान्तरता विद्यमान है। प्रकृति की अवस्थाओं में कारण-कार्य का सम्बन्ध है : क से ख उत्पन्न होता है; ख से ग; और ऐसा ही क्रम चलता है। क, ख, ग...आदि के व्यक्त होने के साथ ही, दूसरी ओर मानसिक घटनाएं क' ख' ग'...'आदि' भी प्रकट होती जाती हैं। यह समानान्तरता इतनी प्रभावशाली होती है कि हमें कारण-कार्य सम्बन्ध की भ्रान्ति होने लगती है।

तीसरा विचार यह है कि शरीर मन पर प्रभाव डालता है, और मन शरीर पर प्रभाव डालता है। इन दोनों में दोनों तरफों से कारण-कार्य का सम्बन्ध है। मेरे पांव पर चोट लगती है। मेरा ध्यान तुरन्त उधर हो जाता है; मुझे पीड़ा होती है, और मैं, नयी स्थिति को बदलने के लिए, जो कुछ कर सकता हूं, करता हूँ। ज्ञान, भाव और क्रिया-मन के तीनों चिह्न व्यक्त हो जाते हैं। दूसरी ओर मैं लिखना चाहता

हूं, और मेरी अंगुलियां कलम को पकड़ती हैं, आंखें कागज पर टिकती हैं, और मेरे मस्तिष्क की क्रिया विशेष दिशा में होने लगती है। शरीर में किसी प्रकार का विष प्रविष्ट हो जाय, तो मानसिक विकार पैदा हो जाता है; दूसरी ओर निरन्तर चिन्ता से रक्त विषैला हो जाता है। कहावत है कि स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मन होता है। यह भी कह सकते हैं कि स्वस्थ मन अपने शरीर को स्वस्थ बना लेता है।

मन और प्रकृति में जो सम्बन्ध होता है, वह शरीर के द्वारा ही होता है। मैं कलम को उठाने के लिए, पहिले अपनी बाहु को हिलाता हूं। जब सुई चुभती है, तो वह तन्तुजाल की बोध-तन्तुओं में कंपकपी पैदा कर देती है, और इससे मस्तिष्क के एक भाग में भी उत्तेजना उत्पन्न हो जाती है, इसके पीछे मुझे सुई चुभने का बोध होता है।

क्रिया द्रव्य का लक्षण है। द्वैतवाद के मानने वाले मन और शरीर (प्रकृति) दोनों को ही कारण का पद देते हैं। बहुतेरे दार्शनिक कारण-कार्य सम्बन्ध को दो तरफा मानते हैं।

# भूमण्डल-प्रवाह और उसका समाधान

## १. भूमण्डल या दृष्ट का तत्व

पिछले अध्याय में, हम भूमण्डल की रूप-रेखा का वर्णन करते रहे हैं। अंग्रेजी में इसके लिए 'नेचर' शब्द का प्रयोग होता है। 'नेचर' के प्रत्यय में दो विचार प्रधान हैं :—

(१) हम हर ओर परिवर्तन देखते हैं। पदार्थ बनते और टूटते हैं; जो दृष्ट है, वह अदृष्ट हो जाता है; जो अदृष्ट था, वह दृष्ट हो जाता है। इस सारे परिवर्तन की पृष्ठभूमि स्थिर है। इस स्थिरता के मुकाबले में ही हमें अस्थिरता का बोध होता है। यह स्थायी सत्ता 'नेचर' कहलाती है।

(२) भूमण्डल में जो घटनाएं होती हैं, वे असंगत या क्रमरहित नहीं होतीं। इनमें व्यवस्था दिखायी देती है। यदि जगत में व्यवस्था ही व्यवस्था हो, तो हमें इसके अस्तित्व का ज्ञान ही नहीं हो सकता। व्यवस्था के साथ अव्यवस्था भी विद्यमान है। जिस तरह अस्थिरता हमारा ध्यान स्थिरता की ओर फेरती है, उसी तरह अव्यवस्था की ओर संकेत करती है। व्यवस्था 'नेचर' के प्रत्यय में दूसरा अंश है।

भूमण्डल की बाबत विचार करते हुए, हमें अनिवार्य रूप में पूछना होता है कि—

(१) यह कैसे विद्यमान हो गया ?

(२) इसमें व्यवस्था का आगमन कैसे हुआ ?

वर्तमान अध्याय में, इन दोनों प्रश्नों पर विचार करेंगे।

### १. भूमण्डल का आरम्भ

हम जो कुछ निर्जीव या सजीव देखते हैं, वह अनित्य दिखाई देता है। हम आप भी जीवन को किसी समय आरम्भ करते हैं; कुछ देर यहां टिकते हैं; और फिर चल देते हैं, हम पूछते हैं कि जो कुछ अल्प अंशों की बाबत दिखाई देता है, क्या वही समस्त भूमण्डल की बाबत भी ठीक है ? क्या कोई समय ऐसा था, जब इसका भी आरम्भ हुआ ?

कुछ लोग प्रश्न का उत्तर 'हां' में देते हैं; कुछ 'नहीं' में देते हैं; और कुछ 'हां' और 'नहीं' को मिलाने का यत्न करते हैं। पहिली श्रेणी के विचारक कहते हैं कि एक विशेष समय पर सृष्टि की रचना हुई। यह रचना स्रष्टा ने की। इस विचार के साथ कुछ प्रसिद्ध धर्मों ने हमें परिचित कर दिया है। क्यों परमात्मा ने एक विशेष समनि रचना पराकयश्चय किया? इसकी बाबत कुछ नहीं कहा जा सकता। आम ख्याल यही है कि परमात्मा ने शून्य से विश्व को उत्पन्न किया; परन्तु इसके अतिरिक्त मध्यकाल में दो और विचार भी थे। एक विचार के अनुसार, परमात्मा ने अपने एक अंश को विश्व का रूप दे दिया; दूसरे के अनुसार, परमात्मा ने विश्व को अपने अन्दर से निकाला, जैसे मकड़ी जाले को अन्दर से निकालती है। इस तरह रचना को 'उत्पादन', 'विभाजन' और 'उद्घाटन'—तीन रूपों में देखा गया है। पहले विचार के अनुसार, परमात्मा सृष्टि का निमित्त कारण है; दूसरे और तीसरे विचारों के अनुसार, वह सृष्टि का निमित्त कारण ही नहीं, उपादान कारण भी है। उद्घाटन का ख्याल भारत में प्रचलित है। पश्चिम में प्लाटीनस ने इसका प्रसार किया। दोनों के अनुसार, उद्घाटन एक गिरावट है। पूर्ण परमात्मा को इसकी इच्छा क्यों हुई? नवीन वेदान्त में 'माया' इसके लिए उत्तरदायी है। प्लाटीनस के विचार में, सृजन परमात्मा का स्वभाव ही है; किसी अन्य कारण को ढूंढना आवश्यक नहीं।

प्रश्न का दूसरा उत्तर यह है कि भूमण्डल का आरम्भ कभी हुआ ही नहीं : यह अनादि है, और अनन्त भी है। डिमाक्राइटस के परमाणुवाद में हम इस मत का एक दृष्टान्त देख चुके हैं।

इस विचार को हम स्वभाववाद या 'नैचुरिलिस्म' कह सकते हैं। भूमण्डल अपने समाधान के लिए, आप ही पर्याप्त है; किसी अलौकिक, दैवी शक्ति की सहायता की जरूरत नहीं।

तीसरा विचार ऊपर के दोनों विचारों का मेल करने का यत्न है। भवन बनाने के लिए सामग्री की आवश्यकता है। ईंट, चूना, लोहा, लकड़ी आदि के बिना, वायु में किले बन सकते हैं, परन्तु भूमि पर छोटा झोंपड़ा भी नहीं बन सकता। दूसरी ओर भवन बनाने के लिए सामग्री ही पर्याप्त नहीं; सामग्री को विशेष आकार देने के लिए भवन-निर्माण करने वाले की भी आवश्यकता है। इस विचार के अनुसार, भूमण्डल की सामग्री, प्रकृति, तो अनादि है; परन्तु इसे आकार देने के लिए, निमित्त कारण की आवश्यकता है, दार्शनिकों ने, पहले दो विचारों की अपेक्षा, इस विचार को अधिक सन्तोषजनक समझा है। अफलातूं के विचारानुसार, सृष्टि में व्यवहार और अव्यवस्था

दोनों विद्यमान हैं। आरम्भ में अव्यवस्था ही थी। परमात्मा ने व्यवस्था को स्थापित किया, परन्तु परमात्मा भी प्रकृति के नियमों के प्रतिकूल नहीं कर सकता। वह इन नियमों को बरत कर ही अपना उद्देश्य सिद्ध कर सकता है। अपूर्णता का कारण प्रकृति का तमोगुण है, जो सारे यत्न के मार्ग में बाधा बनता है।

अरस्तू ने सामग्री और आकृति के भेद पर विशेष बल दिया। उसने परमात्मा को 'मूल कारण' का नाम दिया है। उसके विचार में, उत्थान के साथ सामग्री की अपेक्षा आकृति का महत्व बढ़ता जाता है। जीवित पदार्थों का सारा यत्न सामग्री को आकृति देने, और फिर उस आकृति को स्थिर रखने में व्यय होता है। नीम के वृक्ष को लें। अन्य वृक्षों की तरह, इसमें भी आक्सिजन, हाइड्रोजन, और कार्बन ही अधिक मात्रा में हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि जीवन-शक्ति इन और कुछ अन्य अंशों को मिलाकर नीम की आकृति तैयार करती है, और जहां तक बन पड़ता है, उसे स्थिर रखती है। यह भी कह सकते हैं कि आकृति सामग्री को विशेष ढांचे में ढालती है।

यह तो भूमण्डल के आरम्भ की बाबत हुआ। जैसा हम कह चुके हैं, भूमण्डल या 'नेचर' के प्रत्यय में व्यवस्था का अंश सम्मिलित है। अब इसकी बाबत कुछ विचार करें।

## २. भूमण्डल की व्यवस्था : यंत्रवाद और प्रयोजनवाद

व्यवस्था और अव्यवस्था, क्रम और क्रमहीनता, दोनों संसार में विद्यमान हैं। पहला प्रश्न तो यही है कि हमें अव्यवस्था की अपेक्षा व्यवस्था के समाधान की चिन्ता क्यों है? दोनों एक ही स्थिति के तथ्य हैं। जब मैं जूते पहिनने लगता हूं, तो किसी विशेष कारण के अभाव में, कभी दायां जूता पहले पहिनता हूं, कभी बायां। यदि कोई पुरुष, मुझे बताये बिना मुझे देखता रहे, तो वह सौ दो सौ बार देखने के बाद यही पायेगा कि जितनी बार एक क्रिया होती है, लगभग उतनी बार ही दूसरी क्रिया होती है। इसमें हैरानी की कोई बात नहीं। परन्तु यदि वह देखता है कि मैं १०० में ८५ बार पहले बायां जूता पहनता हूं, तो उसके लिए प्रश्न खड़ा हो जाता है! अगर वह देखे कि ६० अन्य मनुष्य भी ऐसा ही करते हैं, तो उसके लिए प्रश्न और गम्भीर हो जाता है। यहां दो क्रियाओं में से एक क्रिया के चुनाव का प्रश्न है। अब कल्पना करें कि चुनाव करने वाले अनेक हैं, और जिन विधियों में से चुनाव करना है, वे भी अनेक हैं। इस हालत में स्वाभाविक यही है कि चुनावों में असमानता हो। यदि इस हालत में भी क्रिया में ७०-७५% समानता पायी जाय, तो हम इसकी ओर से उदासीन हो ही नहीं सकते।

एक और स्थिति की कल्पना करें। एक मरुभूमि या रेगिस्तान में १०० पुरुष अलग-अलग एक स्थान से दूसरे स्थान को जाते हैं। वहां कोई सीमा-चिह्न नहीं, न उनके पांव का निशान रेत पर पड़ता है। उनके लिए कितने सम्भव मार्ग हैं? सीधा मार्ग केवल एक है; टेढ़े मार्गों की कोई गिनती ही नहीं। अब यदि यह पता लगे कि उनमें बहुसंख्या या अच्छी संख्या सीधे मार्ग पर चली है, तो एक महत्वपूर्ण प्रश्न उठ खड़ा होता है। जहां सम्भावना का इतना महत्व हो, वहां अव्यवस्था के लिए तो हम तैयार ही होते हैं; व्यवस्था का मौजूद होना एक समस्या होती है।

## २. व्यवस्था के कुछ रूप

व्यवस्था या एकरूपता कई रूपों में प्रकट होती है। यहां हम तीन रूपों की ओर संकेत करेंगे।

(१) द्रव्य और गुणों का सम्बन्ध

(२) कारण-कार्य का सम्बन्ध

(३) पशु-पक्षियों के नैसर्गिक उत्तेजन (इन्स्टिंक्ट)

इन तीनों एकरूपताओं का जीवन-व्यवहार के साथ गहरा सम्बन्ध है।

हम प्रत्येक पदार्थ को उसके गुणों से पहचानते हैं; 'गुणों' से, 'गुण' से नहीं; क्योंकि प्रत्येक वस्तु में कई गुण पाये जाते हैं। ये गुण इकट्ठे मिलते हैं। द्रव्य उनके संयोग का तत्व है। सांख्य शास्त्र के अनुसार ज्ञान-इन्द्रियां विशेष गुणों का ज्ञान देती है; मन इन्हें गठित करके, एक पदार्थ का ज्ञान देता है। मन द्रव्य की एकता की रचना नहीं करता; इसे देखता है। हमारे लिए, वर्तमान प्रसंग में, महत्व की बात यह है कि प्रत्येक वस्तु अपने अपनत्व को धारण किये रहती है।

दूसरी एकरूपता कारण-कार्य सम्बन्ध की है। यह सम्बन्ध देश में स्थित पदार्थों का संयोग नहीं, अपितु काल में होने वाली घटनाओं का सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध स्थायी है। अपने उद्देश्यों की पूर्त्ति के लिए हमें साधनों का प्रयोग करना होता है; और हम देखते हैं कि जो साधन किसी विशेष स्थिति में, आज सफल होता है, वही पहले भी सफल होता रहा है।

नैसर्गिक उत्तेजन जाति के व्यक्तियों में एक समान मिलते हैं। ये व्यक्ति के जीवन में सीखे नहीं जाते। ये एक उद्देश्य की सिद्धि में साधक होते हैं, यद्यपि व्यक्ति को इसका स्पष्ट ज्ञान नहीं होता। यह उद्देश्य, सीधे या अस्पष्ट रूप में, व्यक्ति या जाति के जीवन को सुरक्षित रखना होता है।

## ३. व्यवस्था के दो समाधान

इन एकरूपताओं का समाधान कैसे कर सकते हैं? लोकवाद कहता है कि प्रकृति के नियम इस समाधान के लिए पर्याप्त हैं; लोकान्तरवाद के अनुसार इन व्यवस्थाओं को समझने के लिए हमें, लोक से परे और ऊपर एक चेतन और विवेकयुक्त सत्ता की शरण लेनी पड़ती है।

विज्ञान राशि और शक्ति (मास और एनर्जी) का वर्णन करता है। आजकल एनर्जी का प्रत्यय प्रधान है। पहले 'वस्तु' की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था; अब क्रम या व्यवहार की ओर दिया जाता है। इसके फलस्वरूप, 'लोकवाद' पहले 'प्रकृतिवाद' के पदों में कथन करता था, अब 'यन्त्रवाद' के पदों में करता है। यन्त्र-वाद का मर्म क्या है?

करणों या हथियारों का प्रयोग चिरकाल से मानव-क्रिया का चिह्न बना हुआ है। परन्तु १९ वीं शती में इन करणों ने बहुत पेचीदा रूप ग्रहण कर लिया। ये हथियार मशीनें कहलाते हैं। इंग्लैंड के जीवन में मशीन इतनी प्रधान हो गयी कि यन्त्रों का बनाना और यन्त्रों का चलाना नागरिकों की बहुसंख्या का काम बन गया। कपास का कातना, सूत का बुनना, वस्तु सीना, धोना, सुखाना, तह करना—सब कुछ मशीन से होने लगा। मशीन घरों में भी घुसी, और इसने खाना पकाना, पात्रों का साफ करना, उन्हें सुखाना आरम्भ कर दिया। खाने की जो चीजें डब्बों में बन्द बाजार में बिकती हैं, उन पर लिखा होता है—'हाथ से न छुआ हुआ।' जो लोग आगे-पीछे, दायें-बायें यन्त्र ही देखें, उनके दिमाग में यन्त्र का ख्याल प्रमुख हो जाता है, और 'यन्त्रवाद' उनका दार्शनिक सिद्धान्त होने लगता है।

यन्त्र नियम के अनुसार काम करता है; जो एनर्जी उसमें है, वह निश्चित क्रम में व्यय होती है। यन्त्र कोई चुनाव नहीं करता; इसके लिए अच्छे-बुरे, उपयोगी-अनु-पयोगी, का भेद नहीं। यदि कहीं पूर्ण निष्पक्षता मिलती है, तो यन्त्र में मिलती है। यन्त्रवाद कहता है कि समस्त भूमण्डल भी यन्त्र की तरह नियमबद्ध चल रहा है; यह नियत पथ से इधर-उधर हो ही नहीं सकता। 'प्रयोजनवाद' इस दावे को स्वीकार नहीं करता। यह कहता है कि यन्त्र तो बना ही प्रयोजन की सिद्धि के लिए है। सिलाई की मशीन सीने से पहले बनती है, और इसका बनाने वाला प्रयोजन के साथ काम करता है। यन्त्र तो प्रयोजन का साकार रूप ही है। यन्त्रवादी उत्तर में कहता है—'मैं यन्त्र की बाबत कह रहा था; तुमने यन्त्र बनाने वाले की बाबत कहना आरम्भ कर दिया है। अपना विचार यन्त्र तक सीमित रखो; यन्त्र स्वयं तो निष्प्रयोजन चलता

है।' प्रयोजनवाद कहता है कि यन्त्र तो चलता ही नहीं; यह चलाया जाता है। यन्त्र एक द्वार है जिसकी एक ओर से शक्ति आती है, और दूसरी ओर निकल जाती है। इस मार्ग में से गुजरने की प्रेरणा करने वाला चेतन आत्मा होता है। जैसा कार्लाइल ने कहा, 'असली जहाज तो जहाज बनाने वाला है।'

यन्त्रवाद और 'प्रयोजनवाद' व्यवस्था के दो समाधान हैं, और विवाद का विषय बने हुए हैं। व्यवस्था के उपर्युक्त तीन रूपों के सम्बन्ध में इन दोनों की जांच करें।

## ४. द्रव्य-गुण की एकरूपता

जैसा हम देख चुके हैं, वैशेषिक दर्शन में द्रव्य के साथ गुण और कर्म का जिक्र किया गया है। गुणों में प्रधान और अप्रधान का भेद किया जाता है। लोकवाद के अनुसार, भूमण्डल परमाणुओं के संयोग-वियोग का फल है। परमाणुओं में मात्रा, आकृति और गति है। वे ठोस भी हैं। उनमें और कोई गुण नहीं।

जो गुण परमाणुओं में पाये जाते हैं, क्या वे वास्तव में गुण हैं?

मात्रा तो गुण नहीं। आकृति भी इतना ही बताती है कि कोई वस्तु देश वा अवकाश के कितने भाग को घेरे हुए है। गति क्रिया है। किसी वस्तु के ठोस होने का अर्थ यह है कि वह किसी अन्य वस्तु को अपने अन्दर घुसने नहीं देती, और आवश्यकता पड़ने पर, आक्रमण का मुकाबला करती है। यह वास्तविक क्रिया नहीं; क्रिया की योग्यता है।

इस तरह यन्त्रवाद भूमंडल को गुणों से वंचित कर देता है। इसके अनुसार सारी सत्ता परमाणुओं और उनकी गति में ही है। यह तो भूमण्डल का फीका, अरोचक चित्र है। हम पदार्थों को उनके गुणों से पहचानते हैं। इन गुणों का अध्ययन हमारी शिक्षा का एक प्रमुख साधन है। जगत का रूप-रंग, मधुर ध्वनि, रस, गंध, स्पर्श हमारे जीवन को मीठा बनाते हैं। इन गुणों के अभाव में, सौन्दर्य-विद्या और ललित कला के लिए कोई स्थान ही नहीं रहता। व्यावहारिक ज्ञान भूमण्डल के तत्व को अति तेज गति के रूप में ही नहीं देख सकता। हमारा व्यवहार, हमारा ज्ञान, हमारा आनन्द अधिक मात्रा में गुणों पर निर्भर है। यदि ये गुण हमारे भास ही हैं, तो भी ये बहुत मूल्यवान हैं। ये निष्प्रयोजन नहीं। भूमण्डल का नाना गुणों से सम्पन्न होना प्रयोजनवाद की पुष्टि करता है।

## ५. कारण-कार्य की एकरूपता

विज्ञान में कारण-कार्य सम्बन्ध प्रमुख प्रत्यय है। इस सम्बन्ध का ज्ञान कैसे होता है?

जहां तक बाह्य घटनाओं का सम्बन्ध है, हम घटनाओं में एक क्रम देखते हैं। निर्जीव पदार्थों की हालत में, प्रयोजन के भाव या अभाव का स्पष्ट पता नहीं चलता।

चेतन और अचेतन में इस सम्बन्ध का सबसे स्पष्ट दृष्टान्त वह क्रिया है, जो मन की प्रेरणा से शरीर में होती है। ऐसी हालत में भी, कुछ मनोवैज्ञानिकों के विचारानुसार हमें अपने निश्चय और अंगों की गति में भेद करना चाहिए। जो परिवर्तन शरीर में हुआ है, वह ऐसे नियम के अधीन हुआ है, जो हमारे शासन में नहीं। कारण-कार्य का स्पष्ट रूप तो यही है कि हम अपनी इच्छा से अपने ध्यान को एक या दूसरे विषय की ओर फेर सकते हैं। हमारे शरीर की क्रियाएं, चाहे वे हमारी इच्छा का फल हों, या, रक्त के दौरे की भांति, हमारी इच्छा के बिना हों, प्रयोजन की सिद्धि के लिए ही होती हैं। जीवन-शक्ति अपने आपको स्थिर रखने के लिए इनका प्रयोग करती है। हमारा विचार तो सारा किसी प्रयोजन के साथ ही होता है। यन्त्र की हालत में कोई नूतनता नहीं होती। जीवन तो, जैसा बर्गसां ने कहा है, नयेपन का नमूना ही है। जीवन-शक्ति अपने उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए प्रकृति को साधन बनाती है।

## ६. नैसर्गिक उत्तेजन

जीवन-शक्ति और चेतना का मेल नैसर्गिक उत्तेजन की हालत में होता है। यन्त्रवाद वृक्षों आदि को ही नहीं, पशु-पक्षियों को भी यन्त्र के रूप में देखता है। इस प्रतिज्ञा की जांच करें। नैसर्गिक उत्तेजन में, व्यक्ति के अन्दर से प्रवृत्ति का आविर्भाव होता है, और बाहर से उसकी गति निश्चित होती है। बिल्ली को भूख लगती है। वह व्याकुल इधर-उधर चलने लगती है। पास से भेड़ गुजर जाती है; बिल्ली की अवस्था में कोई भेद नहीं पड़ता। इतने में उसे एक चूहा दिखायी देता है। वह ठहर जाती है, और कुछ प्रतीक्षा करती है। फिर धीरे-धीरे चूहे की ओर चलती है। जब अन्तर कम हो जाता है, तो चूहे पर झपट पड़ती है। यन्त्रवादी कहता है कि बिल्ली की क्रिया के कई अंश हैं। प्रत्येक अंश 'सहज-क्रिया' है, और समस्त क्रिया सहज-क्रियाओं की लड़ी या जंजीर है। प्रत्येक अंश में एक आक्रमण होता है, और बिल्ली उसपर एक

निश्चित प्रक्रिया करती है। इसमें न उसकी इच्छा का दखल है, न किसी प्रयोजन के लिए स्थान है।

'मनोविज्ञान नैसर्गिक उत्तेजन को अमानसिक नहीं', अपितु मानसिक प्रक्रिया बताता है। इस प्रक्रिया में ये लक्षण स्पष्ट पाये जाते हैं :—

(१) बिल्ली प्रतीक्षा करती है। इसका अर्थ यह है कि वह उठी हुई प्रवृति को कुछ समय के लिए रोकती है, क्योंकि ऐसा करना 'उद्देश्य पूर्त्ति' के लिए लाभकारी है।

(२) बिल्ली सफलता और असफलता में भेद करती है।

(३) बिल्ली इस तजुर्बे की दृष्टि में अपने क्रम को बदल लेती है। उद्देश्य दृष्टि में रहता है; साधनों में परिवर्तन होता जाता है।

चूहा द्वार के निकट है। वह जब बिल्ली को देखता है, तो भागता है; और बाहर दीवार के साथ दौड़ने लगता है। बिल्ली उसका पीछा करती है। यन्त्रवादी कहता है कि जो कुछ बिल्ली को दिखायी देता है, वह उसकी क्रिया को निश्चित करता है। अगर कमरे में दो द्वार हैं, और चूहा दूसरे द्वार की दिशा में भागता है, तो बिल्ली के लिए आवश्यक नहीं कि वह चूहे का पीछा ही करे। वह दूसरे द्वार की ओर दौड़ती है, और चूहे को आगे से आ मिलती है। ऐसी हालत में, उसकी क्रिया सहज क्रियाओं की लड़ी नहीं। ऐसा करने में बिल्ली नैसर्गिक उत्तेजन के यन्त्रवादीय सिद्धान्त का खण्डन कर देती है।

बन्दरों पर जो निरीक्षण हुए हैं, वे भी यही बताते हैं कि नैसर्गिक उत्तेजन का रूप यन्त्र की क्रिया से भिन्न है। एक बन्दर को पिंजड़े में बन्द किया गया। उसकी भुजा सलाखों में से बाहर निकल सकती थी। बाहर निकट ही कुछ केले रखे गये। बन्दर ने केले को पिंजड़े में खींच लिया, और अपनी तृप्ति कर ली। उसके बाद केलों को परे रखा गया, और पिंजड़े के पास एक छड़ी रख दी गयी। कुछ असफल यत्न के बाद बन्दर ने छड़ी से केले को खींचा, और खाया। बन्दर के लिए इससे भी कठिन स्थिति पैदा की गयी। उसकी एक भुजा को कुछ दिनों के लिए लकवे से शक्तिहीन कर दिया गया, और एक छड़ी की जगह बांस के दो टुकड़े रख दिये गये, जिनमें एक दूसरे में दाखिल हो सकता था। भूख से व्याकुल बन्दर ने, पशुओं के सीखने की विधि के अनुसार दो टुकड़ों की एक छड़ी बनाना सीखा। यह क्रम कुछ दिन जारी रहा। जब रोगी भुजा ठीक होने को आयी तो स्वस्थ भुजा को लकवा मार दिया गया। अब बन्दर क्या कर सकता था? उसने यन्त्रवादियों के सिद्धान्त की परवाह न की, और तुरन्त उस भुजा से, जो अभी स्वस्थ हुई थी, बांस के टुकड़ों को छड़ी बनाया,

और केला खींच लिया। यन्त्रवाद के अनुसार, नैसर्गिक उत्तेजन में तन्तुजाल में एक पथ बन जाता है, और एनर्जी, एक सिरे से प्रविष्ट होकर, उस पथ पर चलकर, दूसरे सिरे पर जा निकलती है। बन्दर की हालत में एक भुजा में ऐसा पथ बना था; दूसरी भुजामें नहीं बना था। बन्दर को अभ्यास से सीखने की, अर्थात लगातार यत्न से दूसरी भुजा में पथ बनाने की आवश्यकता नहीं हुई। जो कुछ एक भुजा के प्रयोग से सीखा था, वह दूसरी भुजा के काम भी आ गया।

इस विवरण से पता लगता है कि नैसर्गिक उत्तेजन में मन सक्रिय होता है, और अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिए नाना प्रकार के साधन बरतता है। वास्तव में सारा मानसिक जीवन प्रयोजनात्मक है। जब पक्षी एक स्थान से उड़ता है, तो किसी अन्य स्थान पर जा बैठने के लिए ही उड़ता है। हमारी मानसिक गति भी एक स्थिति को छोड़ कर दूसरी स्थिति को पहुंचने के लिए होती है।

इस तरह व्यवस्था की तीनों एकरूपताएं, जिन्हें हमने अध्ययन के लिए चुना है यन्त्रवाद की अपेक्षा प्रयोजनवाद का अधिक सन्तोषजनक समाधान जाहिर करती हैं।

पहले भूमण्डल के आरम्भ की बाबत विचार हुआ था; पीछे इसकी वर्तमान स्थिति के कुछ पहलुओं की बाबत विचार हुआ है। इन दोनों से संगत प्रश्न यह है कि आरम्भ और वर्तमान के मध्य में क्या होता रहा है? वर्तमान स्थिति जैसी कुछ है, कैसे बन गयी? यह प्रश्न आगामी दो अध्यायों का विषय है।

# विकासवाद (१)

विकासवाद एक तरह से भूमण्डल का जीवन-वृत्तान्त है।

भूमण्डल के दो प्रमुख चिह्न आरम्भ से ही साधारण मनुष्यों और विचारकों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करते रहे हैं। ये पदार्थों का नानात्व और उनके भेद हैं। नवीन काल में, पश्चिम में इन चिह्नों पर विशेष रूप से ध्यान दिया गया है। कांट ने कहा कि मनुष्य का बन्दर की सन्तान होना सम्भव है। १९ वीं शती में, भौतिक-विज्ञान की उन्नत्ति ने सर्वसाधारण के कुछ विचारों को धक्का लगाया। शतियों से लोग श्री मूसा के इस विवरण को मानते आये थे कि सृष्टि-उत्पत्ति छः दिनों में हुई, और विशेष क्रम में हुई। भूगर्भ-शास्त्र ने एक नयी पुस्तक लोगों के सामने रख दी। इस पुस्तक के अध्ययन से पता लगा कि सृष्टि को वर्तमान अवस्था में पहुंचने में, अनेक अवस्थाओं से गुजरना पड़ा है, और उन अवस्थाओं का विवरण पर्वतों की तहों में अनेक स्थानों में मौजूद है। पहिला विचार यह था कि सृष्टि जैसे यह रची गयी, वैसी ही चलती आयी है। विज्ञान ने कहा कि विकास के स्पष्ट, अखण्डनीय, प्रमाण मिलते है। इस मतभेद ने धर्म और विज्ञान के विवाद का रूप ग्रहण कर लिया।

जिन लोगों ने विकासवाद का बलपूर्वक समर्थन किया, उनमें चार्ल्स डार्विन और हर्बर्ट स्पेन्सर के नाम विशेष महत्व के हैं। १९ वीं शती के मध्य के करीब ये दोनों विवेक के आकाश में प्रकट हुए, और ऐसे चमके कि कुछ वर्षों में ही सारा यूरोप विकासवाद की चर्चा करने लगा।

डार्विन वैज्ञानिक था। उसने अपने आप को प्राणियों के विकास तक सीमित रखा। स्पेन्सर दार्शनिक था। उसने अपने विवेचन के लिए कोई सीमा निश्चित नहीं की।

वर्तमान अध्याय में हम स्पेन्सर और डार्विन के मतों का अध्ययन करेंगे।

## १. हर्बर्ट स्पेन्सर

हर्बर्ट स्पेन्सर (१८२०–१९०३) के अनुसार हमारा ज्ञान तीन रूपों में व्यक्त होता है :—

(१) असंगत ज्ञान। यह व्यवहार के लिए पर्याप्त समझा जाता है।

(२) अपूर्ण-संगत ज्ञान। इसे विज्ञान कहते हैं। इसका उद्देश्य किसी विशेष क्षेत्र के तथ्यों को संगत करना है।

(३) पूर्ण-संगत ज्ञान। यह दर्शन का तत्व-ज्ञान है। यह समस्त ज्ञान को श्रृंखला-बद्ध करना चाहता है।

स्पेन्सर दार्शनिक था। उसका लक्ष्य किसी ऐसे नियम की खोज करना था, जो ज्ञान के हरएक भाग पर समान लागू हो सके। ऐसा नियम दो रूपों में ख्याल किया जा सकता है—कोई व्यापक क्रम हो, जिसके अनुसार सब कुछ होता रहा है, और हो रहा है; या कोई ऐसा उद्देश्य हो, जिसकी ओर भूमण्डल की गति हो रही है। स्पेन्सर ने पहले विचार को अपनाया, और संसार-प्रवाह को समझने के लिए, अन्त की ओर नहीं, अपितु आरम्भ की ओर देखा। विज्ञान का दृष्टि-कोण प्रायः यही होता है। स्पेन्सर वैज्ञानिकों का दार्शनिक था।

स्पेन्सर ने ऐसे नियम या सूत्र की खोज की, जो सत्ता के विविध स्तरों पर लागू हो सकें। जब उसे अपने विचार में, यह सूत्र मिल गया, तो ४० वर्ष इसकी व्याख्या में लगा दिये। उसने मौलिक नियमों पर, प्राण-विद्या पर, मनोविज्ञान पर, समाज-शास्त्र पर, और नीति पर पुस्तकें लिखीं। स्पेन्सर का व्यापक नियम क्या था?

स्पेन्सर विकासवाद के सूत्र का इन शब्दों में बयान करता है :—"विकास प्रकृति का संयोग और इसके साथ, गति का अपव्यय या विनाश है। इस व्यवहार में, प्रकृति अनिश्चित, असंगत, समानता से निकल कर निश्चित, संगत विविधत्व की ओर जाती है। इस परिवर्तन में, जो गति विद्यमान रहती है, उसमें भी प्रकृति के परिवर्तन के समान परिवर्तन होता है।" यह एक डरावना सूत्र दिखायी देता है। स्पेन्सर ने दस पुस्तकों में इसकी व्याख्या की। इसका अर्थ क्या है?

आकाश में घने बादल दिखायी देते हैं। आंधी आती है, और वह अन्य स्थानों में जा पहुंचते हैं : कुछ गर्म इलाके में, जहां वह वायु में मिलकर अदृष्ट हो जाते हैं; कुछ ठंढक के कारण वर्षा के कतरे बन जाते हैं; कुछ ऊंचे पवर्तों के शिखर पर पहुंच कर बर्फ बन जाते हैं। बादल के रूप में, जल के परमाणु-समूह पानी के कतरे बनने के लिए पर्याप्त ठंढक प्राप्त नहीं कर पाये थे, परन्तु एक दूसरे के इतने निकट आ गये थे कि अदृष्ट नहीं, अपितु दृष्ट हो गये थे। अब उन्होंने तीन रूप धारण कर लिये हैं। बर्फ ठोस है; इसकी मात्रा और आकृति निश्चित है। पानी की मात्रा निश्चित है, परन्तु इसे जिस पात्र में डालें, उसी का रूप ग्रहण कर लेता है। इसका अर्थ यह है कि इसके परमाणु रहते एक दूसरे से संयुक्त हैं, परन्तु एक दूसरे के सम्बन्ध में अपना स्थान बदलने

में समर्थ हैं। गैस की हालत में मात्रा तो बनी रहती है, परन्तु विस्तार और आकृति के सम्बन्ध में कोई रोक नहीं दिखाई देती। जो गैस अभी एक बोतल में बन्द थी, वह कमरे में भर जाती है।

हम संसार में अनेक प्राकृत पदार्थ देखते हैं—ईंट, पत्थर, सोना, वृक्ष, फल, नद, पवर्त, चांद, सूर्य आदि। इन सबके निश्चित आकार हैं; यह सब एक दूसरे से भिन्न हैं। स्पेन्सर कहता है कि यह निश्चितता और नानात्व विकास के फल हैं; आरम्भ में प्रकृति अभिन्न थी, और आकृति से शून्य थी। स्पेन्सर ऐसी अवस्था से आरम्भ करता है; वह यह नहीं कहता कि प्रकृति कहां से आयी। वह यह भी फर्ज करता है कि भेद अव्यक्त रूप में विद्यमान था; काल की गति में यह व्यक्त हुआ। समान परमाणु, संयुक्त हुए; इसके फलस्वरूप असमान समूह प्रकट हो गये। जहां केवल अभेद और समानता थी, वहां अनेकता और भेद पैदा हो गये। भेद-रहित, रूप-रहित, आकार-रहित अव्यक्त में संयोग हुआ, और इसके कारण अनिश्चितता के स्थान में निश्चितता प्रकट हुई, और अभेदता के स्थान में विविधत्व प्रकट हुआ।

परन्तु यह विविधत्व भी निरपेक्ष नहीं। हम अनेकता के साथ एक नये प्रकार की एकता भी देखते हैं। सूर्य, पृथिवी, नक्षत्र, चांद आदि असंगत वस्तुएं नहीं। पृथिवी सूर्य के गिर्द घूमती है; चांद पृथिवी के गिर्द घूमता है। ऐसा प्रतीत होता है कि अगणित छोटे-छोटे पदार्थ आकाश में चक्कर काट रहे हैं। कभी-कभी उनमें से कोई पृथिवी के इतना निकट आ जाता है कि आकर्षण के दबाव में 'जलते तारे' के रूप में पृथिवी पर आ गिरता है। सूर्य, पृथिवी, चांद आदि मण्डल हैं, असंगत पदार्थ नहीं। दूर न जायं, अपने शरीर में ही हम मण्डल का अच्छा नमूना देखते हैं। इसका अर्थ यह है कि पदार्थों में, एक दूसरे पर आश्रित होने का भाव पाया जाता है। इस सम्बन्ध की ओर संकेत करता हुआ, स्पेन्सर कहता है कि विकास में, असंगतता का स्थान संगतता ले लेती है।

अब विकास के लक्षण की ओर फिर देखें। जहां तर्क प्रकृति का सम्बन्ध है, विकास में :—

बिखरे हुए परमाणुओं का संयोग होता है;
समानता के स्थान में विविधत्व प्रकट होता है;
अनिश्चितता का स्थान निश्चितता ले लेती है;
असंगतता के स्थान में संगठन प्रकट होता है।

प्रकृति के साथ, स्पेन्सर गति को भी फर्ज करके चलता है।

प्राचीन परमाणुवादियों के लिए, गति का आविर्भाव एक समस्या थी। स्पेन्सर

इस झमेले में नहीं उलझता। वह गति की हालत में होने वाले परिवर्तन का भी जिक्र करता है। प्राकृत पदार्थों के निर्माण के साथ, एनर्जी आकाश में बिखर जाती है; व्यवहार की दृष्टि से वह ज़ाया हो जाती है। सारी एनर्जी इस तरह ज़ाया हो जाने पर, पूरी अव्यवस्था फिर लौट आयेगी। जब तक यह नहीं होता, तब तक जो एनर्जी पदार्थों में टिकी रहती है, उसमें भी उसी प्रकार का परिवर्तन होता है, जैसा प्रकृति में होता है।

यह जड़ जगत के विकास की कथा है।

विकास का तत्व निरन्तरता है, भूमण्डल के विकास में कहीं रुकावट नहीं।

स्पेन्सर की पुस्तकों की जिल्दों पर एक चित्र होता था; एक चट्टान पर से एक वृक्ष निकलता है, और उसपर एक तितली बैठी है। चित्र का आशय यह है कि जड़ प्रकृति में जीवन निहित है, और जीवन में चेतना निहित है। पर्याप्त समय बीतने पर, जड़ प्रकृति में ही जीवन व्यक्त हो जाता है, और पीछे जीवन में चेतना व्यक्त हो जाती है। हमें निर्जीव और सजीव में, अचेतन और चेतन में, असंगति प्रतीत होती है, परन्तु इसका कारण यह है कि हमारी दृष्टि काल के अति अल्प भाग में ही देखती है। कुदरत का काम बहुत धीरे होता है, और करोड़ों अरबों वर्षों से हो रहा है।

प्राकृत दृष्टि-कोण से चट्टान वृक्ष का भार सहज ही सम्हार सकती है और वृक्ष तितली का भार उठा सकता है। परन्तु जरा गहरा देखें, तो पता लगता है कि चट्टान के लिए वृक्ष का बोझ असह्य है, और वृक्ष के लिए तितली का उठाना सम्भव नहीं। प्रकृति में राशि (मास) और गति (एनर्जी) होती है; इनमें जीवन के साथ कोई समानता नहीं। गति अन्य गति का रूप धारण कर सकती है; जीवन नहीं बन सकती। इसी तरह, जीवन एक रूप से दूसरे रूप में बदल सकता है, परन्तु चेतना नहीं बन सकता। इस कठिनाई ने विकासवाद में निरपेक्ष और मध्यवर्ती का भेद पैदा कर दिया। निरपेक्ष विकासवाद समस्त सत्ता में निरन्तरता देखता है; मध्यवर्ती विकास-वाद के अनुसार, जड़ प्रकृति, वनस्पति और चेतन प्राणियों की तीन स्वतन्त्र श्रेणियां हैं। इनमें प्रत्येक में अपना विकास होता है; गति से जीवन व्यक्त नहीं होता, और जीवन से चेतना व्यक्त नहीं होती।

हर्बर्ट स्पेन्सर इनमें से किस श्रेणी में है? आम ख्याल यह है कि वह निरपेक्ष विकासवादी था। जिस चित्र की ओर ऊपर संकेत किया गया है, उससे भी यही प्रतीत होता है, परन्तु यह ख्याल सन्देहयुक्त-सा है।

प्राणविद्या पर लिखते हुए, स्पेन्सर जीवन का निम्न विख्यात लक्षण देता है:—

'जीवन आन्तरिक सम्बन्धों और वाह्य सम्बन्धों की निरन्तर अनुकूलता है।'

अन्य शब्दों में, जीवन प्राणी और उसके वातावरण में अनुकूलता का नाम है। जीवन की सम्पूर्णता इस अनुकूलता की सम्पूर्णता पर निर्भर होती है। इस अनुकूलता का अभाव ही मृत्यु है। इस लक्षण में यह नहीं बताया है कि इस अनुकूलता के उत्पादन में प्राणी और वातावरण क्या भाग लेते हैं। जड़ पदार्थ भी वातावरण के अनुकूल ही होते हैं। भवन की नींव और दीवारें जब तक दृढ़ होती हैं, भवन भवन बना रहता है; जब दृढ़ नहीं रहतीं, तो गिर कर भूमि पर आ पड़ता है। दोनों हालतों में अनुकूलता एक जैसी है। भेद भवन में रहने वाले के लिए है, जिसने उसे गर्मी-सर्दी से बचने के लिए बनाया था। उसके प्रयत्न में भविष्य की ओर देखना, आनेवाली स्थिति के लिए तैयारी करना आवश्यक अंग है। जब सैर में मुझे भयावना कुत्ता मिलता है, तो मैं छड़ी लेने घर नहीं आता; घर से छड़ी लेकर चलता हूं। स्पेन्सर ने भी आरम्भ में नहीं, परन्तु पीछे जीवन के इस चिह्न को देखा, और नये संस्करणों में 'जीवन के क्रियाशील अंश' शीर्षक का एक अध्याय दाखिल कर दिया। इस अध्याय में उसने कहा—'हम यह स्वीकार करने पर विवश हैं कि जीवन, अपने तत्व में, भौतिक और रासायनिक पदों में समझा नहीं जा सकता।' यह कह कर उसने निरपेक्ष विकासवाद का परित्याग कर दिया।

चेतना की बाबत भी हम यही देखते हैं। 'मनोविज्ञान' पर लिखते हुए, स्पेन्सर कहता है :—

'क्या हम परमाणु के झकोले और तन्तुजाल के आघात को एक प्रकार की गति समझ सकते हैं? हम ऐसा करने में असमर्थ हैं। जब हम इन दोनों को एक दूसरे के निकट लाते हैं, तो पूर्ण रूप में, स्पष्ट दिखायी देता है कि चेतना के एकांग और गति के एकांग में कुछ भी सांझा नहीं।'

प्रकृतिवाद का परित्याग, इनसे अधिक साफ शब्दों में, क्या हो सकता है?

जिस स्थिति के साथ लोकवाद ने आरम्भ किया था, उसे वह कायम नहीं रख सका।

## २. चार्ल्स डार्विन

१७ वीं शती में गणित तत्व-ज्ञान पर छाया हुआ था। महाद्वीप के प्रसिद्ध दार्शनिक डेकार्ट, स्पीनोजा, और लाइबनिज—तीनों गणित में विशेषज्ञ थे। उन्होंने तत्व-ज्ञान को गणित के सांचे में ढालने का यत्न किया। १८ वीं शती में मनोविज्ञान ने तत्व-ज्ञान पर विशेष प्रभाव डाला। लाक, बर्कले, और ह्यूम ने दार्शनिक विवेचन में ज्ञान के स्वरूप पर अधिक बल दिया। कांट का दृष्टि-कोण भी यही था। १९ वीं

शती में तत्व-ज्ञान की स्थिति ने एक और पलटा देखा। प्राण-विद्या एक स्वतन्त्र विद्या के रूप में प्रकट हो चुकी थी। अब इसने तत्व-ज्ञान को प्रभावित किया। चार्ल्स डार्विन (१८०९-१८८२) ने जीवधारी-विकास को अपनी खोज का विषय बनाया।

डार्विन से पूर्व भी इस सम्बन्ध में कुछ काम हो चुका था। उसका दादा, ईरैस्मस डार्विन, एक प्रसिद्ध चिकित्सक और कवि था। उसने 'पौदों के स्नेह' नाम की एक पुस्तक लिखी। इस पुस्तक ने लोगों के ध्यान को अपनी ओर आकृष्ट किया। यह लोकप्रियता शीघ्र ही समाप्त हो गयी, जब ईरैस्मस के ख्याल की हँसी उड़ाने के लिए, एक और लेखक ने 'तिकोणों के स्नेह' नाम की एक पुस्तक प्रकाशित कर दी। पीछे ईरैस्मस ने 'प्राणियों का विकास' नाम की पुस्तक लिखी। इसका प्रभाव कुछ नहीं हुआ।

ईरैस्मस की अपेक्षा, लैमार्क (१७४४-१८२९) का काम अधिक महत्व का था। चार्ल्स डार्विन ने लैमार्क के काम को आगे बढ़ाया। लैमार्क के विचार में प्रमुख बातें ये थीं :—

(१) प्राणियों में नानात्व की बड़ी मात्रा विद्यमान है।

(२) इस नानात्व के पैदा करने में, वातावरण का बड़ा हाथ है। घास में रहने वाले कीड़े हरे रंग के हो जाते हैं; बर्फीले इलाकों में रहने वाले जन्तु सफेद हो जाते हैं।

(३) जब कोई अंग प्रयोग में आता हो, तो उसकी स्थिति दृढ़ हो जाती है; जब उसका प्रयोग न हो, तो कमजोर हो जाती है। जो पशु-पक्षी अंधेरे में ही रहते हैं, वे कुछ नस्लों के बाद देखने की शक्ति खो बैठते हैं। अंगों का प्रयोग-अप्रयोग भी, वातावरण की तरह, नानात्व उत्पन्न करने में एक कारण होता है।

डार्विन को विशेष प्रेरणा एक अनोखे स्थान से मिली। एक पादरी, मैल्थस (१७६६-१८३६) ने 'आबादी' पर एक पुस्तक लिखी। मैल्थस ने देखा कि जन-संख्या तेजी से बढ़ रही है, और निर्वाह की सामग्री उसी वेग से नहीं बढ़ती। गणित की परिभाषा में उसने अपने विचार को इस नियम के रूप में प्रकट किया :—'खाने वालों की संख्या में रेखागणित-सम्बन्धी वृद्धि होती है; और खाद्य-सामग्री की मात्रा में अंकगणित-संबंधी वृद्धि होती है।'

दृष्टान्त के लिए, यदि हम १ से आरम्भ करें, तो ये दो पंक्तियां निम्न रूप ग्रहण करेंगी :—

१, २, ३, ४, ५, ......

१, २, ४, ८, १६, ......

मैल्थस इस नतीजे पर पहुंचा कि कहीं से भी आरम्भ करें, कोई समय अवश्य आयेगा, जब खानेवालों की संख्या खाद्य-सामग्री की मात्रा को पीछे छोड़ जायगी। चूंकि सब जी नहीं सकेंगे, कुछ को मरना होगा। कुदरत तुल्यता बनाये रखने के लिए, अकाल, रोग और युद्ध का प्रयोग करती है। मैल्थस के ध्यान में भविष्य प्रधान था। उसके विचारों ने डार्विन के ध्यान को भूतकाल की ओर फेरा। उसने सोचा कि मैल्थस को जो चिन्ता भविष्य की बाबत लगी है, वही भूतकाल में होता तो नहीं रहा है?

उसने इस प्रश्न को अपने अनुसन्धान का विषय बनाया।

## १. डार्विन का मत

डार्विन दार्शनिक न था; वैज्ञानिक था। दार्शनिक एकान्त में भी विचार कर सकता है; वैज्ञानिक को अध्ययन के लिए तथ्यों को इकट्ठा करना होता है। डार्विन ने एक जहाज पर पांच वर्ष अनेक स्थानों का भ्रमण किया, और वनस्पति और पशु-पक्षियों की बाबत बहुत सामग्री संग्रह की। इसके बाद, उस सामग्री का वैज्ञानिक परीक्षण किया। जो कुछ उसे मालूम हुआ, वह प्रतिज्ञा की स्थिति रखता है; प्रमाणित तथ्य या नियम का पद नहीं रखता। प्रतिज्ञा की स्थिति में, इसका महत्व बहुत बड़ा है। अब हर प्रकार के विचार में विकासवादीय दृष्टि-कोण प्रमुख दृष्टि-कोण बन गया है। किसी स्थिति को समझने के लिए, हम देखना चाहते हैं कि यह वर्तमान अवस्था में कैसे आ पहुंची है।

वनस्पति की दुनिया में हम निस्सीम नानात्व पाते हैं। आन्तरिक बनावट की समानता की नींव पर हम, पदार्थों को श्रेणियों और उप-श्रेणियों में बांटते हैं। आम कई प्रकार के हैं; फूल भी अनेक प्रकार के हैं। हम आमों को एक जाति में रखते हैं; फूलों को दूसरी जाति में रखते हैं। इसी तरह घोड़ों को एक जाति में रखते हैं; कुत्तों को दूसरी जाति में रखते हैं। घोड़ों और कुत्तों दोनों की कई उप-जातियां हैं; उनमें आपस का भेद उतना नहीं होता, जितना घोड़े और कुत्ते में होता है। उप-जातियां तो एक दूसरे में बदलती दिखायी देती हैं; जातियों की हालत में ऐसा परिवर्तन नहीं होता। जाति-भेद का आरम्भ कैसे हुआ? जातियों का मूल कारण क्या है? डार्विन ने इस प्रश्न को अपनी खोज का विषय बनाया। डार्विन इस नतीजे पर पहुंचा कि जाति और उप-जाति का भेद तात्विक भेद नहीं। यह विकास का परिणाम है। जातियां वह उप-जातियां हैं, जिन्होंने, कुछ लाभकारी विशेषताओं के कारण, प्रमुख और स्थायी स्थिति प्राप्त कर ली है।

वास्तव में सारी वनस्पति एक ही स्रोत से चली है, और सारे पशु-पक्षी, जिनमें मनुष्य भी सम्मिलित है, एक ही परिवार हैं। यही नहीं, अन्त में वनस्पति और चेतन प्राणी एक ही जीवाणु या घटक की सन्तान हैं। भूमण्डल का सारा जीवित भाग एक ही कुटुम्ब है। डार्विन के मत का सार यह है कि 'वर्तमान भूत की सन्तति और भविष्य का जन्मदाता है।' जो कुछ अन्त में है, वह आरम्भ में ही गुप्त रूप में विद्यमान था।

## २. विकास-मार्ग

प्राणीमात्र विकास के प्रभाव में आये हैं। विकास का आम रूप-रंग क्या रहा है?

जहां विकास ने उन्नति का रूप ग्रहण किया है, वहां इसके दो चिह्न प्रमुख रहे हैं :—

(१) सरलता के स्थान में नानात्व प्रकट हुआ है। अंगों और प्रक्रियाओं में विविधता पैदा हुई है।

(२) सारे अंशों में बनावट की समानता तो नहीं रही, न ही उनकी प्रक्रियाएं एक सी रही हैं; परन्तु उस समानता के स्थान में उद्देश्य की एकता व्यक्त हो गयी है। सारे भाग समस्त के कल्याण के लिए काम करते हैं। किसी स्वस्थ मनुष्य का शरीर इन दोनों चिह्नों का अच्छा उदाहरण है। शरीर की बनावट और इसकी प्रक्रियाएं विज्ञान की दो शाखाओं का विषय बन गयी हैं।

परन्तु जीवन सदा इस मार्ग पर नहीं चलता। कभी-कभी निश्चलता और अवनति भी प्रकट होते हैं। तथ्य तो यह है कि उन्नति कहीं-कहीं हुई है। निश्चलता की हालत में, किन्हीं कारणों से विकास-परिवर्तन विशेष मंजिल पर पहुंच कर रुक गया है। अवनति की हालत में, गति रुकी ही नहीं, विपरीत दिशा में होने लगी। इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं। पक्षियों के पक्ष उनके बहुमूल्य अंग हैं; यह उन्हें आकाश में जिधर चाहें, जाने के योग्य बनाते हैं। शुतर्मुर्ग को शरीर की मात्रा बढ़ाने का शौक हुआ, और वह, पक्ष रखते हुए भी, उड़ने की शक्ति खो बैठा। प्रत्येक चौपाये के शरीर पर दर्जनों प्राणी पलते हैं, जो पहले स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करते थे।

## ३. जाति परिवर्तन

जाति-परिवर्तन की पुष्टि में निम्न हेतु दिये जाते हैं:—

(१) मनुष्य अपने यत्न से थोड़े समय में ही वनस्पति और पशु-पक्षियों की उप-जातियों में परिवर्तन कर लेता है। आम, फल, गोभी आदि के नये नमूने उत्पन्न किये जाते हैं। पशु-पक्षियों में भी, सीमाओं के अन्दर, भिन्न उप-जातियों के संयोग

से नयी उप-जातियां पैदा हो जाती हैं। जो कुछ मनुष्य, सीमित काल में, उप-जातियों की हालत में कर सका है, वह कुदरत के लिए असीम काल में कर लेना असम्भव नहीं। सम्भावना तो ऐसे परिवर्तन के पक्ष में है।

(२) जातियों में पर्याप्त भेद है; परन्तु उप-जातियों को जातियों के मध्य में ऐसे क्रम से रखा जा सकता है, और जातियों को भी ऐसे क्रम से रखा जा सकता है, कि एक क्रमिक पंक्ति सी बन जाती है। भाई-बहिन एक माता-पिता की सन्तान होते हैं; चचेरे, मौसेरे भाई एक दादा-नाना के पोते-दोहते होते हैं। पीछे हटते जायं, तो सम्बन्ध हल्का होता जाता है, परन्तु कुछ न कुछ बना तो रहता ही है। यही अवस्था वनस्पति के नाना रूपों में, और चेतन प्राणियों के नाना रूपों में दिखाई देती है। और चेतन और अचेतन जीवधारियों के किनारे पर जो प्राणी हैं, उनकी बाबत निश्चय से कह ही नहीं सकते कि वे किस श्रेणी में हैं।

(३) जो जन्तु अब भिन्न जातियों में हैं, उनके शरीरों की बनावट और अंगों के क्रम में अद्भुत समानता दिखायी देती है। ज्ञान-इन्द्रियां, कर्म-इन्द्रियां, मेदा, रक्त-नालियां, तन्तु-जाल आदि की स्थिति से ऐसा प्रतीत होता है कि कभी ये जातियां बहुत निकट थीं।

(४) बहुत से जन्तुओं के शरीरों में कुछ अंग ऐसे मिलते हैं, जो अब किसी काम के नहीं, परन्तु सम्भवतः पहले अपना कार्य करते थे; कुछ अन्य जन्तुओं की हालत में, वे अब भी काम के अंग हैं। इससे भी प्रतीत होता है कि ये जातियां कुछ अन्य जातियों से सम्बद्ध रही हैं।

(५) विकासवाद का सबसे सबल पोषक जीवन के इतिहास का वह लेख है, जो पर्वतों में सुरक्षित पड़ा है। भूगर्भ विद्या ने इस लेख का जो अध्ययन किया है, उससे पता चलता है कि ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, जाति प्रवर्तन होता रहा; काल की गति के साथ, कुछ जातियां समाप्त हो गयीं, और कुछ व्यक्त हो गयीं। जीवन की जंजीर की कई लुप्त कड़ियां मिल गयी हैं।

### ४. विकास के प्रमुख कारण

डार्विन ने अपने अनुसन्धान में विशेष ध्यान उन अंशों की ओर दिया, जिन्होंने विकास-मार्ग को निश्चित किया है। उसने दो ऐसे अंशों का वर्णन किया है :—

(१) जो लाभकारी चिह्न व्यक्ति में होते हैं, वह वंश-परम्परा से सन्तान में जा पहुंचते हैं।

(२) जीवन में योग्य और अयोग्य व्यक्तियों, उप-जातियों और जातियों में

संग्राम होता है। इसके फलस्वरूप, जो बचने के योग्य होते हैं, बच रहते हैं; जो योग्य नहीं होते, वह मृत्यु के मुंह में जा पहुंचते हैं।

डार्विन ने विशेष महत्व दूसरे अंश को दिया।

इन दोनों अंशों पर कुछ विचार करें।

डार्विन की पहिली धारणा के सम्बन्ध में तीन प्रश्न उठते हैं :—

(१) चिह्नों में लाभदायक और हानिकारक का भेद किस नींव पर आश्रित है ?

(२) चिह्नों की यह विभिन्नता उत्पन्न कैसे हो जाती है ?

(३) इस बात का क्या प्रमाण है कि गुण माता-पिता से सन्तान में परम्परा से जा पहुंचते हैं ?

स्पेन्सर ने कहा था कि जीवन का उद्देश्य स्वयं जीवन ही है। जो कुछ जीवन को बढ़ावा देता है, वही अच्छा है; जो, इसके विपरीत, जीवन की मात्रा वा इसके विस्तार में कमी करता है, वह बुरा है। विकासवाद की दृष्टि में हित और अनहित का अर्थ इतना ही है कि कोई अंग या क्रिया जीवन को बढ़ावा देती है, या उसे हानि पहुंचाती है।

डार्विन का प्रमुख काम यह बताना है कि अनेक गुणों में चुनाव कैसे होता है। हम जानना चाहते हैं कि यह बहुतायत प्रकट कैसे हो जाती है। डार्विन से पहले लैमार्क ने कहा था कि ये भेद वातावरण के भेद से उत्पन्न होते हैं। प्राकृत वातावरण हर कहीं एक समान नहीं होता। इसके फलस्वरूप प्राणियों की स्थिति में भी भेद हो जाता है। डार्विन ने इस भेद के समाधान की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया। उसने इसे एक मौलिक तथ्य स्वीकार कर लिया। प्राणियों में गुण-भेद आकस्मिक घटना है; यह दैवयोग से प्रकट हो गया है। हितकर गुणों को स्थायी बनाने के लिए आवश्यक है कि ये गुण एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुंच सकें। इसी तरह व्यक्ति के गुण जाति के गुण बन सकते हैं। व्यक्ति के हितकर गुण दो प्रकार के होते हैं—एक वह जो उसके जीवन में, उसकी स्थिति के कारण उसे प्राप्त होते हैं; दूसरे वह गुण जिनका जीवन के व्यवहार से कोई सम्बन्ध नहीं दिखायी देता। पहले प्रकार के गुणों में रंग का परिवर्तन है, जो गोरे लोगों के चमड़े में गर्म देश में रहने से हो जाता है। लम्बे अभ्यास से गायन में निपुणता भी इसी का उदाहरण है। ऐसे गुणों को 'प्राप्त गुण' कहते हैं। दूसरी श्रेणी में वह गुण आते हैं, जो जीवाणु के साथ ही व्यक्ति को मिल जाते हैं। इन्हें 'अप्राप्त' या 'मौलिक गुण' कहते हैं। प्राण-विद्या की वर्तमान धारणा यह है कि जिन गुणों को व्यक्ति अपने जीवन के व्यापार में प्राप्त करता है, वे परम्परा के रूप में एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को नहीं पहुंचते; मौलिक गुण पहुंच

जाते हैं। डार्विन के ध्यान में 'प्राप्त गुण' थे। इनके बचे रहने के विरुद्ध जिन लोगों ने प्रचार किया, उनमें विइजमैन का नाम प्रमुख है।

## ५. प्राकृत चुनाव

अब हम डार्विन के सिद्धान्त की प्रमुख धारणा की ओर आते हैं। सृष्टि में, सभी खाना मांगने वालों के लिए पर्याप्त खुराक मौजूद नहीं। जीवित रहने की इच्छा प्राणी के स्वभाव में ही है। इस इच्छा को पूरा करने के लिए, सारे प्राणी यत्न करते हैं। यह यत्न संग्राम का रूप धारण करता है। इसी को 'जीवन-संग्राम' कहते हैं। यह संग्राम प्रत्येक के लिए, मूलार्थ में, जीवन और मृत्यु का प्रश्न होता है। एक लेखक के शब्दों में, 'प्रत्येक मुख एक बध-स्थान है, और प्रत्येक मेदा एक कब्र है।' जीवन-संग्राम में कुछ प्राणी बच रहते हैं; बहुतेरे गिर जाते हैं। सफलता किसी को मिलती है; असफलता अधिक संख्या का भाग्य होती है। यह 'प्राकृत चुनाव' है। इस चुनाव में, योग्यतम का बचाव होता है; अयोग्य मिट जाते हैं।

डार्विन ने जीवन-संग्राम में व्यक्तियों के संग्राम पर बल दिया, परन्तु समूहों के संग्राम को भुला नहीं दिया। उसके कुछ अनुयायियों ने, जिनमें टामस हक्सले भी शामिल है, इस तथ्य को नहीं देखा, और समझ लिया कि डार्विन केवल व्यक्तियों के संग्राम की बाबत ही कहता है। व्यक्ति की हालत में, संग्राम की नींव स्वार्थ पर होती है। सामूहिक संग्राम में, प्रत्येक को अपना हित समूह के हित में देखना होता है। यह त्याग या समूह-भक्ति है। वैयक्तिक संग्राम में, बल और चतुराई मूल्यवान हैं; सामूहिक संग्राम में, समूह-भक्ति भी इनके साथ मिल जाती है।

व्यक्ति अपने आपको बचाना चाहता है; कुदरत जाति को बचाने की चिन्ता करती है। वृक्ष उगते हैं, और गिरते हैं; वन बचा रहना चाहिए। इस भेद को एक उदाहरण से स्पष्ट कर सकते हैं। एक वन में दो प्रकार की गौएं रहती हैं। एक श्रेणी की गौओं में अबल सन्तान के लिए अगाध प्रेम है, और वे सन्तान की रक्षा के लिए, अपनी जान की बाजी लगा देती हैं। दूसरी श्रेणी की गौओं की प्रकृति में यह स्नेह मौजूद नहीं। वन में कुछ हिंसक पशु भी हैं, जो गौओं पर गुजारा करते हैं। पहली श्रेणी की गौएं मुकाबले में आप मर जाती हैं, परन्तु उनकी सन्तान बच रहती हैं; दूसरी श्रेणी की गौएं भाग कर अपनी जान बचा लेती हैं, परन्तु उनके बच्चे सब मारे जाते हैं। गौओं की इन दोनों श्रेणियों में बचा रहने की अधिक योग्यता किस श्रेणी में है? नेचर की दृष्टि में, स्वार्थ की अपेक्षा सन्तान-प्रेम अधिक मूल्यवान है।

## ६. लैंगिक चुनाव

यहां तक हमने प्राकृत चुनाव का सामान्य रूप में वर्णन किया है। अनेक हालतों में, एक ही वस्तु में दोनों लिंग विद्यमान होते हैं। जहां व्यक्तियों में लिंग-भेद होता है, वहां एक नये प्रकार का चुनाव प्रकट हो जाता है। नरों में मादा को प्राप्त करने के लिए मुकाबला होता है। जीतने वाले नर में कुछ गुण होते हैं, जो अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा उसे मादा की प्राप्ति में अधिक सहायता देते हैं। इस प्रकार के चुनाव को 'लैंगिक चुनाव' कहते हैं। डार्विन कहता है कि संसार में सौन्दर्य बड़ी मात्रा में मौजूद है। इसका भाव लैंगिक चुनाव का फल है। 'लैंगिक चुनाव ने अति चमकीले रंग, सुहावने आकार और अन्य भूषण पक्षियों, तितलियों, और अन्य प्राणियों में नरों को और कहीं-कहीं दोनों लिंगों को दिये हैं। पक्षियों की हालत में इस चुनाव ने नर की ध्वनि को मादा के कानों के लिए संगीत बना दिया है। हरे पत्तों के मुकाबले में, फल और फूल, अपने चमकीले रंगों के कारण, आकर्षक हो गये हैं, ताकि कीड़े फूलों को देखें, उन पर आकर बैठें, और उनको उपजाऊ बना दें; साथ ही पक्षी उनके बीजों को फैला सकें।'

यह कथन दिलचस्प है, परन्तु यह समझ में नहीं आता कि डार्विन ने इसे कैसे लिख दिया। डार्विन तो सारे सजीव विकास को 'प्राकृत संग्राम' के नियम के नीचे लाना चाहता था। अचेतन फूल, निश्चित उद्देश्य से, अपने आपको आकर्षक कैसे बना सकते हैं? वह पक्षियों को, अपने बीज फैलाने के लिए, आवाहन कैसे कर सकते हैं? प्राकृत क्रिया निष्प्रयोजन होती है। यहां डार्विन कुदरती विकास में 'प्रयोजनवाद' को ले आया है।

# विकासवाद (२)

पिछले अध्याय में हमने स्पेन्सर और डार्विन के विचारों का कुछ अध्ययन किया है। स्पेन्सर दार्शनिक था; डार्विन वैज्ञानिक था। अब हम फिर दार्शनिकों की ओर आते हैं।

## १. हेर्नी बर्गसाँ

### १. डार्विन और बर्गसाँ

डार्विन के दृष्टिकोण से बर्गसाँ (१८५९-१९४१) का दृष्टिकोण भिन्न था। डार्विन ने दो बातों पर विशेष बल दिया था :—

(१) प्राकृत विकास निरन्तर जारी रहता है, परन्तु इसकी गति बहुत धीमी है। 'नानात्व' पैदा करने में कुदरत बहुत उदारता से काम लेती है, परन्तु 'नवीनता' पैदा करने में बहुत कंजूस है।

(२) कुदरत इतने पदार्थों को पैदा कर देती है कि उनका पालन-पोषण भी नहीं कर सकती। इसके फल-स्वरूप जीवित पदार्थों में संग्राम होने लगता है।

बर्गसाँ ने जीवन और प्रकृति में भेद किया। उसके विचारानुसार, जहां प्रकृति की दुनिया में 'नूतनपन' का सर्वथा अभाव है, वहां जीवन में यह व्यापक है। प्राकृत पदार्थों में परिवर्तन का अर्थ इतना ही है कि परमाणु अपना स्थान बदल लेते हैं, और पहिले संयोग की जगह एक नया संयोग विद्यमान हो जाता है। स्वयं सत्ता में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता। दूसरी ओर, कोई जीवित पदार्थ दो क्षणों के लिए भी एक अवस्था में नहीं रहता। जीवन अपने आपको लगातार नया बनाते रहने का नाम ही है।

डार्विन ने कहा था कि जीवन में संग्राम जारी है। बर्गसाँ ने कहा कि जीवन लड़ता तो है, परन्तु अपने साथ नहीं लड़ता; प्रकृति के साथ लड़ता है। प्रकृति का स्वभाव परिवर्तन के प्रतिकूल है। जब इसमें परिवर्तन होता है, तो किसी बाहर के दबाव के कारण होता है। ऐसी हालत में, यह शीघ्र से शीघ्र फिर स्थिरता को प्राप्त करना चाहती है। दूसरी ओर, जीवन की सारी क्रिया उसकी आन्तरिक शक्ति का

आविष्कार होती है। जीवन ऊपर उठना चाहता है; प्रकृति इसे नीचे खींचती है। जीवन-संग्राम में प्रकृति को पूर्ण रूप से हरा नहीं सकता; तो भी अपनी यात्रा में आगे बढ़ता ही जाता है। उत्पादन करना जीवन का चिह्न है। इसलिए, बर्गसाँ ने अपने सिद्धान्त को 'उत्पादक विकासवाद' का नाम दिया।

उत्पादन का तत्व क्या है ?

डार्विन के मत में जो कुछ अव्यक्त है, वही व्यक्त होता है; जो कुछ 'अन्त' में है, वह 'आरम्भ' में भी मौजूद था। इसका अर्थ यह है कि सारा विकास वास्तव में आवृत्ति ही है। बर्गसाँ कहता है कि ऐसा परिवर्तन तो विकास कहलाने के योग्य ही नहीं। विकास में आन्तरिक परिवर्तन या नवीनता की आवश्यकता है। इस ख्याल से बर्गसाँ ने 'यन्त्रवाद' का विरोध किया। इसी भाव से उसने उद्देश्यवाद या प्रयोजन-वाद का भी विरोध किया। यदि किसी चेतन-शक्ति ने पहले से ही, पूर्ण रूप में, सारी घटनाओं और उनके क्रम की बाबत निश्चय कर लिया है, तो कुछ करना-कराना तो सम्भव ही नहीं; आविष्कार को देखना ही सम्भव है। ऐसी स्थिति में, जीवन-शक्ति का होना न होना एक ही है। 'निरपेक्ष उद्देश्यवाद' एक तरह से उलटा यन्त्र-वाद ही है; भेद केवल इतना है कि एक हालत में भूत वर्तमान को नियत करता है; दूसरी हालत में, भविष्य इसे नियत करता है। दोनों हालतों में नवीनता के लिए, जो जीवन का तत्व है, कोई स्थान नहीं।

## २. सत्ता का स्वरूप

सत्ता की बाबत जानने के लिए हम बाहर या अन्दर देख सकते हैं। जब हम बाहर की ओर देखते हैं, तो हमारा ज्ञान अस्पष्ट ज्ञान होता है। हम अपने अनुभव की नींव पर, वाह्य पदार्थों की बाबत कुछ राय कायम करते हैं। जब कोई डाक्टर किसी रोगी की खोपड़ी को फोड़ कर, उसके मस्तिष्क की परीक्षा करता है, तो होता क्या है? रोगी के मस्तिष्क से पलट कर प्रकाश की किरणें डाक्टर की आंखों पर पड़ती हैं, और वहां से उसके दिमाग में पहुंचती हैं। डाक्टर के दिमाग में कुछ हलचल होती है, और इस पर उसे ज्ञान होता है। यदि उसने कुछ देखा है, तो रोगी के मस्तिष्क को नहीं, अपने मस्तिष्क को देखा है, और इससे रोगी के मस्तिष्क की बाबत अनुमान किया है।

जब हम अन्दर की ओर देखते हैं, तो द्रष्टा और दृष्टि के दर्मियान कोई पर्दा नहीं होता; द्रष्टा दृष्ट को साक्षात् देखता है।

इस भेद के कारण, बर्गसाँ कहता है कि सत्ता के स्वरूप को जानने के लिए हमें

अन्दर की ओर देखना चाहिए। जब हम अपनी दृष्टि को अन्दर की ओर फेरते हैं, तो क्या देखते हैं? एक प्रवाह है, जो कभी रुकता नहीं। मनोविज्ञान चेतना-अवस्थाओं की बाबत कहता है, और हमें ख्याल होता है कि ये अवस्थाएं—क, ख, ग, घ... एक पंक्ति के रूप में है। उनमें से प्रत्येक अवस्था स्थायी स्वतन्त्र अस्तित्व रखती है, और इसके चल देने के पीछे दूसरी अवस्था का आगमन होता है। ये दोनों धारणाएं निर्मूल हैं। जिस चेतनांश को हम 'अवस्था' कहते हैं, वह भी वास्तव में प्रवाह है; और यह चेतनांश एक दूसरे के बाहर नहीं, अपितु प्रवाह के भाग हैं, जो एक दूसरे में प्रविष्ट हैं। बर्गसाँ के विचार में सत्ता एक प्रवाह है, जिसकी गति कभी रुकती नहीं; जिसका कोई भाग अपने आपको दुहराता नहीं; जिसमें 'जीवन-शक्ति' प्रकृति पर 'नूतनता' का पैबन्द लगाने में लगी है। भूमण्डल में पृथक पदार्थ कहीं नहीं; प्रवाह में, व्यवहार की सुविधा के लिए, बुद्धि विशेष अंशों को पदार्थों या वस्तुओं का पद दे देती है। बर्गसाँ के सिद्धान्त को 'प्रवाहवाद' या 'परिवर्तनवाद' कहते हैं।

### ३. जीवन और चेतना

जीवन और चेतना के आपसी सम्बन्ध की बाबत बर्गसाँ का विचार बहुत स्पष्ट नहीं। वह प्रकृति और जीवन में जाति-भेद करता है, परन्तु जीवन और चेतना में ऐसा भेद नहीं करता। इसका अर्थ यह है कि जीवन और चेतना एक ही हैं, या हर कहीं ये दोनों एक साथ मिलते हैं। निश्चय से नहीं कह सकते कि इन दोनों में बर्गसाँ का ख्याल क्या है। इन दोनों में प्रमुख कौन है? बर्गसाँ प्रथम स्थान जीवन को देता है। जीवन अपने विकास में बुद्धि का प्रयोग करता है। जीवन आगे बढ़ने में भूलें भी करता है। एक बड़ी सड़क के मुकाबले में जिस पर यात्रा जारी रहती है, अनेक अल्प मार्ग होते हैं जो बड़ी सड़क से निकलते हैं, और थोड़ी दूर जाकर समाप्त हो जाते हैं।

### ४. विकास के प्रमुख मार्ग

चेतन प्राणियों में चिर काल तक चेतना एकरूप रही। पीछे इसमें भेद हुआ और यह दो भिन्न रूपों में व्यक्त हुई। इन दो रूपों को स्वाभाविक बुद्धि (इन्स्टिंक्ट) और विवेकी बुद्धि कह सकते हैं। कुछ जीवधारी एक बुद्धि में बढ़ने लगे; कुछ दूसरी में। यों भी कह सकते हैं कि जिस मार्ग पर सब जीवधारी चलते आये थे, वह दो उप-भागों में कट गया। एक पर पशु-पक्षी चलने लगे; दूसरे पर मनुष्य चलने लगे। कुछ लोग कहते हैं कि पशु-पक्षियों में स्वाभाविक बुद्धि काम करती है; मनुष्यों में

विवेचक बुद्धि काम करती है। यह ठीक नहीं। दो पृथक मार्गों पर चलने से पहिले दोनों वर्गों के जीवधारी एकरूप बुद्धि से ही काम लेते थे। अलग होने के बाद भी पशु-पक्षियों में विवेचक बुद्धि का थोड़ा अंश मौजूद है, यद्यपि उनमें स्वाभाविक बुद्धि प्रमुख हो गयी है। दूसरी ओर विवेचन की वृद्धि ने मनुष्य को पाशव बुद्धि से वंचित नहीं कर दिया।

बर्गसाँ कहता है कि जीवन के तत्व को समझने के लिए पशुओं का सहज ज्ञान मनुष्य की बुद्धि से अधिक सफल है। यह सुन कर साधारण मनुष्य चकित हो जाता है। बर्गसाँ की राय में जीवन का सार क्रिया है; और पाशव-बुद्धि मानव बुद्धि से क्रिया के निकट है। सहज ज्ञान को ही नैसर्गिक उत्तेजन भी कह लेते हैं। पाशव-चेतना की त्रुटि यह है कि यह व्यवहार को प्रमुख रखती है, और इसलिए इसका दृष्टि-क्षेत्र बहुत संकुचित होता है। मानव बुद्धि का दृष्टि-क्षेत्र विस्तृत होता है, परन्तु यह समस्त वस्तु को नहीं देखती, उसके किसी एक पहलू को देखती है। विश्लेषण या पृथक्करण इसकी प्रिय रीति है। यह सत्ता को जान नहीं सकती; केवल उसके पहलुओं या पक्षों को जान सकती है।

जिस कठिनाई की ओर बर्गसाँ संकेत कर रहा है, उसे एक उदाहरण से स्पष्ट कर सकते हैं। एक पुरुष पहली बार बड़ी नदी के किनारे आता है। नदी बाढ़ में है। मंझधार पूरे वेग से बहती है, और उसमें भंवर भी पड़ते हैं। किनारे पर बैठा मनुष्य बाढ़ के तत्व को नहीं जान सकता; वह लहरों के ऊपर-नीचे होने, भंवर के आकार और उसकी मात्रा को देखता है; परन्तु यह तो बाढ़ नहीं। वह नाव में बैठता है, और मंझधार में जा पहुंचता है। चप्पू चलाने में जो यत्न करना पड़ता है, वह उसे किनारे पर से देखने की अपेक्षा कुछ अच्छा ज्ञान देता है। परन्तु अभी भी यह ज्ञान अधूरा है। जब वह नदी में कूद कर, बाढ़ के साथ ऊपर-नीचे होता है, चक्कर लगाता है, बाढ़ का भाग ही बन जाता है, तब उसे पता लगता है कि बाढ़ क्या है। सत्ता के स्वरूप को जानने के लिए, इसे दूर से देखना पर्याप्त नहीं; निकटस्थ सम्पर्क की आवश्यकता है। जीवन के सार का जीवन-विलीन होने से पता लगता है।

बर्गसाँ के अनुसार दोनों प्रकार की बुद्धि सत्ता का साक्षात्कार कराने में असमर्थ है। तो फिर क्या यह ज्ञान प्राप्त हो ही नहीं सकता? बर्गसाँ इन दोनों बोधों से ऊंचा पद 'आत्म-ज्योति' (इन्ट्यूशन) को देता है। यह पाशव-बुद्धि की तरह विशेष वस्तुओं में उलझी नहीं रहती, न मानव बुद्धि की तरह, पृथक्करण में लगी रहती है।

भारत में भी 'आत्म-ज्योति' को बहुत महत्व दिया गया है। योग की क्रियाओं का मुख्य उद्देश्य इस ज्योति को विकसित करना ही है।

# २. लायड मार्गन और चार्ल्स पीअर्स

**क. प्रकटनात्मक विकास**

उत्पादक विकास से मिलता-जुलता सिद्धान्त 'प्रकटनात्मक विकास' है। उत्पादक विकास जीवन-शक्ति की क्रिया का फल है। यह शक्ति निरन्तर क्रिया में लगी रहती है, और नयी-नयी वस्तुओं को पैदा करती रहती है। प्रकटनात्मक विकास कारण-कार्य सम्बन्ध की बाबत नहीं कहता। यह इतना ही कहता है कि वस्तुत: नवीन अवस्थाएं, प्रक्रियाएं और वस्तुएं प्रकट हो जाती हैं, जिनके आगमन की बाबत हम, पूर्व स्थिति को देख कर, निश्चय से कुछ कह नहीं सकते थे। इनका प्रकट होना वास्तव में नूतनता का आविष्कार है।

लायड मार्गन और कुछ अन्य विचारकों ने इस प्रकार के विकास पर पर्याप्त लिखा है। उनकी शिक्षा में प्रमुख बात यह है कि जब कोई नयी अवस्था प्रकट होती है, तो पूर्व अवस्था समाप्त नहीं हो जाती; उसका अस्तित्व बना रहता है, और वह नवीन अवस्था में मिल कर उसका अंश ही बन जाती है। प्रकृति विद्यमान थी। जब जीवन का आविर्भाव हुआ, तो प्रकृति का विनाश नहीं हो गया; निर्जीव प्रकृति सजीव प्रकृति बन गयी। इसी तरह, जब चेतना का आविर्भाव हुआ, तो सजीव प्रकृति (वनस्पति) का विनाश नहीं हो गया; यह चेतन बन गयी।

यह आविर्भाव कई रूप धारण करता है।

(१) एक परिवर्तन तो यह होता है कि नये गुण प्रकट हो जाते हैं। गुणियों में भेद नहीं होता, परन्तु उनके मेल से ऐसे गुण प्रकट हो जाते हैं, जो मिलने वाले पदार्थों में विद्यमान न थे। ऐसे प्रकटन का एक अच्छा उदाहरण रासायनिक संयोग में मिलता है। हाइड्रोजन और आक्सिजन वायु-रूप हैं। जब विशेष मात्रा में इन का रासायनिक संयोग होता है, तो परिणाम जल होता है, जिसमें दोनों अंगभूत गैसों के गुण नहीं, अपितु नये गुण प्रकट हो गये हैं।

(२) एक अन्य परिवर्तन में, ऐसी वस्तुएं प्रकट हो जाती हैं, जिनके चिह्न उनके पूर्वजों के चिह्नों से भिन्न होते हैं। यह विचित्रता ही जातियों की उन्नति का बड़ा कारण होती है। डार्विन ने विकास का जो विवरण दिया, उसे विभिन्नता के आकस्मिक प्रकटन से आरम्भ किया।

(३) कभी-कभी किसी नवीन घटना या क्रम का आविष्कार होता है। जैसा हमने अभी देखा है, लायड मार्गन के विचारानुसार, जीवन और चेतना का आविष्कार इस तरह हुआ।

(४) कभी कभी ऐसा होता है कि नवीन गुण का आविष्कार तो नहीं होता; परन्तु किसी विद्यमान गुण की मात्रा इतनी बढ़ जाती है कि उसका कोई कारण दिखायी नहीं देता। एक देश में, किसी समय अपूर्व योग्यता के कवि, गायक, दार्शनिक उपज पड़ते हैं। कहते हैं इंग्लैण्ड में एलिजेबेथ प्रथम का समय ऐसा विशेष काल था।

**ख. नियमों का विकास**

यहां तक हमने अवस्थाओं और वस्तुओं के आविष्कार का वर्णन किया है। विकासवाद वैज्ञानिकों का मत है। विज्ञान की नींव इस धारणा पर है कि संसार में जो कुछ हो रहा है, नियम अनुसार हो रहा है। जहां शेष सब कुछ परिवर्तनशील है, वहां 'नियम' स्थायी हैं; इनमें परिवर्तन नहीं होता। ये काल के प्रभाव से बचे हुए हैं। अमेरिका के दार्शनिक चार्ल्स पीअर्स ने इस दावे को स्वीकार नहीं किया। वह कहता है कि संसार में केवल एक नियम ही असन्दिग्ध है, और वह विकास का नियम है। जिन नियमों को हम अचल और स्थिर कहते हैं, वह भी वास्तव में विकास के शासन में हैं। नियमों की स्थिति आदतों की सी है। आदत शनैः शनैः बनती हैं। इसी तरह 'नियम' भी निश्चितता में आगे बढ़ते जाते हैं। किसी विशेष नियम को जितना व्यापक हम आज पाते हैं, उतना व्यापक वह भूत काल में न था; और भविष्य में, आज से अधिक व्यापक होगा। भौतिक विद्या में सबसे प्रमुख नियम आकर्षण का नियम है। आम ख्याल के अनुसार, संसार में कोई प्राकृत पदार्थ, छोटा या बड़ा, निकट या दूर, ऐसा नहीं, जो इसके प्रभाव में न हो। पीअर्स के विचार में यह तथ्य नहीं। हम इतना ही कह सकते हैं कि यह नियम अन्य नियमों की तरह, अपना शासन-क्षेत्र विस्तृत करने में लगा है। वर्तमान में यह क्षेत्र, भूत की अपेक्षा अधिक विस्तृत है, और भविष्य में वर्तमान से अधिक विस्तृत होगा। व्यवस्था के साथ अव्यवस्था भी दिखायी देती है। पीअर्स के विचार में अव्यवस्था आभास-मात्र नहीं; वास्तविक सत्ता है। इसका कारण यह है कि व्यवस्था पूर्ण रूप में बन नहीं चुकी; बन रही है।

## ३. सांख्य का विकासवाद

**१. सांख्य-साहित्य**

कपिल मुनि सांख्य-दर्शन का प्रवर्त्तक है। उसे 'आदि विद्वान्' भी कहा जाता है। सम्भवतः अभिप्राय यह है कि वह पहिला दर्शनकार है।

सांख्य-सिद्धान्त पर जो साहित्य इस समय मिलता है, उसमें तीन पुस्तकें प्रमुख हैं : 'तत्व-समास', 'सांख्य-कारिका' और 'सांख्य-सूत्र'। इनमें 'तत्व-समास' को कपिल की रचना बताया जाता है। वास्तव में यह कोई पुस्तक नहीं; केवल एक विषय-सूची है। इसमें २० विषयों की गणना है। पहले ६ विषय, जिनसे वर्तमान अध्याय का विशेष सम्बन्ध है, ये हैं :—

(१) अ ब, इसलिए, तत्वों का समास (संक्षेप)
(२) आठ प्रकृतियां
(३) सोलह विकार
(४) पुरुष
(५) तीन गुणों वाला होना
(६) संचार और प्रति-संचार (सृष्टि और प्रलय)

'सांख्य कारिका' वा 'सांख्य सप्तति' ७० श्लोकों का संग्रह है, और ईश्वर कृष्ण की रचना है। इसे प्रचलित सूत्रों से पुराना समझा जाता है। हम इसे सांख्य-सिद्धांत का प्रामाणिक विवरण कह सकते हैं।

## २. सांख्य का दृष्टि-कोण

जैसा हम देख चुके हैं, डेकार्ट ने पुरुष और प्रकृति में भेद किया था। उसने इन दोनों में कारण-कार्य सम्बन्ध को स्वीकार किया, परन्तु इनमें इतना भेद कर दिया कि वह इस सम्बन्ध को समझ न सका। उसके पीछे आने वाले दार्शनिकों में कई एक ने द्वैतवाद को छोड़ कर अद्वैतवाद की शरण ली। हर्बर्ट स्पेन्सर ने सारे विकास को प्रकृति का विकास समझा; हीगल ने इसे 'निरपेक्ष मन' के विकास के रूप में देखा। सांख्य में इन दृष्टि-कोणों के समन्वय का यत्न दिखायी देता है। सांख्य डेकार्ट के द्वैत को मानता है, परन्तु पुरुष और प्रकृति में कारण-कार्य सम्बन्ध को स्वीकार नहीं करता। इसके अनुसार इनका सम्बन्ध केवल 'संयोग' है। स्पेन्सर की तरह, सांख्य समझता है कि सारा विकास प्रकृति में होता है; परन्तु साथ ही यह भी कहता है कि यह विकास पुरुष की दृष्टि में ही हो सकता है। इस तरह यह वस्तुवाद और अध्यात्मवाद दोनों को मिला देता है। जहां स्पेन्सर और हीगल ने केवल एक तत्व से आरम्भ किया, वहां सांख्य दो मूल तत्वों, पुरुष और प्रकृति, से आरम्भ करता है।

'प्रकृति' का अर्थ बदलने वाली वस्तु है। परिवर्तन होने पर जो रूप यह धारण करती है, उसे 'विकृति' या 'विकार' कहते हैं। 'मूल प्रकृति' तो किसी अन्य प्रकृति का

विकार नहीं। इसके सात विकार होते हैं, जो अन्य विकारों को जन्म देते हैं। इस ख्याल से, उन्हें 'प्रकृति-विकृति' का नाम दिया जाता है। 'तत्व-समास' में, मूल प्रकृति और इन सात को आठ 'प्रकृतियां' कहा गया है। इनके अतिरिक्त सोलह विकार ऐसे हैं, जिनसे आगे कुछ नहीं बनता। ये सांख्य के २४ प्राकृत तत्व हैं; इनसे अलग पुरुष है, जो न प्रकृति है, और न विकृति है: यह न किसी से बनता है, और न इससे कुछ बनता है। 'तत्व-समास' के विषय २, ३, ४ में इन २५ तत्वों का वर्णन है।

पांचवां विषय प्रकृति के तीन गुणों की ओर संकेत करता है, और छठा सृष्टि और प्रलय की बाबत कहता है। सृष्टि या संचार प्रकृति का विकास है : प्रलय इस विकास का समाप्त हो जाना है। विकास का अर्थ ही यह है कि जो कुछ गुप्त था, वह प्रकट हो जाता है; जो अव्यक्त था, वह व्यक्त हो जाता है। मूल प्रकृति को 'अव्यक्त' भी कहते हैं।

### ३. विकास का रूप

व्यक्त को हम देखते हैं; अव्यक्त को देख नहीं सकते। हम व्यक्त से अव्यक्त का अनुमान करते हैं। इसलिए, सांख्य में, व्यक्त (दृष्ट जगत) को लिंग या चिह्न कहा है। अव्यक्त व्यक्त का कारण या आश्रय है। व्यक्त अनेक भागों में दिखायी देता है। इसका हर एक भाग मिश्रित है, और 'देश' और 'काल' से बंधा है; कोई भाग नित्य नहीं, और कोई भाग व्यापी नहीं। व्यक्त में क्रिया और परिवर्तन विद्यमान हैं।

कारिका १० में, व्यक्त और अव्यक्त के इन भेदों को बताते हुए कहा है :—

'व्यक्त कारणवाला, अनित्य, अव्यापी, क्रियावाला, अनेक, आश्रित, चिह्न, मिश्रित और परतन्त्र है। अव्यक्त इसके विपरीत है।'

विकास में जो परिवर्तन होता है, उसका जो विवरण स्पेन्सर ने दिया है, वह सांख्य के विवरण से बहुत मिलता है।

ऊपर कहा गया है कि प्रकृति का विकास पुरुष की दृष्टि पड़ने पर आरम्भ होता है। पुरुष की दृष्टि आवश्यक है, परन्तु स्वयं प्रकृति में भी, ऐसी स्थिति में, विकसित होने की क्षमता होनी चाहिए। चुम्बक लोहे को अपनी ओर खींचता है, क्योंकि लोहे को खींचे जाने पर कोई आपत्ति नहीं होती। प्रकृति में विकसित होने की व्यवस्था मौजूद है। मूल प्रकृति या अव्यक्त में तीन गुण—सत्व, रजस, और तमस विद्यमान हैं। जब तक इनका सामंजस्य बना रहता है, अव्यक्त दशा बनी

रहती है; जब पुरुष की दृष्टि पड़ने पर, यह सामंजस्य टूट जाता है, विकास होने लगता है। ये तीन गुण कभी एक दूसरे का साथ नहीं छोड़ते; एक दूसरे को दबाते भी हैं, और व्यक्त भी करते हैं। सत्व का तत्व प्रकाश है; रजस का तत्व क्रिया है; तमस का तत्व निश्चलता या क्रिया में रोक डालना है। तीनों गुण रहते एक साथ हैं, परन्तु इनकी शक्ति, एक दूसरे की अपेक्षा, बढ़ती-घटती रहती है। सारा विकास इसी भेद का फल है।

### ४. विकास-क्रम

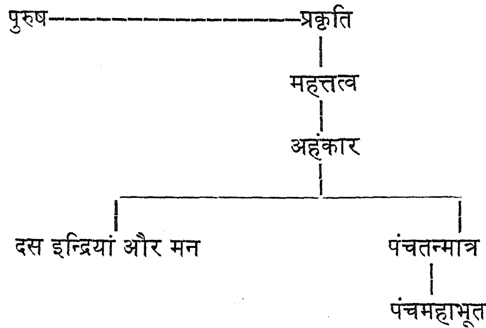
'तत्व-समास' में आठ प्रकृतियों का वर्णन किया गया है। इनमें एक मूल प्रकृति है, जिसमें विकास का आरम्भ होता है। पहला प्रकटन सत्व-गुण की प्रधानता का फल है। इसे महत् या महत्तत्व कहते हैं। इसी का नाम बुद्धि भी है। इसके बाद रजस के प्रभाव में 'अहंकार' प्रकट होता है। अहंकार अभिमान या अहम्मति है। महत् में बोध तो होता है, परन्तु इस बोध में, 'मैं' का ख्याल सम्मिलित नहीं होता। अहंकार में यह सम्मिलित होता है, और ज्ञान को आत्म-ज्ञान में बदल देता है।

हम यहां किसी मनुष्य की बुद्धि या अहंकार का वर्णन नहीं कर रहे हैं; विश्व के आरम्भिक परिवर्तनों का बयान कर रहे हैं। अहंकार रजस प्रधान है ही; आगे परिवर्तन में यह प्रमुख भाग लेता है। सत्व के योग में, यह इन्द्रियों को जन्म देता है; और तमस के योग में पंच तन्मात्रों को उत्पन्न करता है। इन्द्रियां ११ हैं; पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां और ग्यारहवां मन। मन का काम दोनों प्रकार की इन्द्रियों का एकीकरण है; इसलिए, जहां उन इन्द्रियों को वाह्य-करण कहते हैं, मन को अंतः-करण का नाम दिया जाता है। दूसरी ओर, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध——पांच तन्मात्र प्रकट हुए। ११ इन्द्रियां तो निरी विकृतियां थीं; इनसे आगे कुछ उत्पन्न नहीं हुआ। पांच तन्मात्रों य से थाक्रम आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवी——पांच स्थूल भूत उत्पन्न हुए।

यह सारा विवरण, सांख्य सूत्र ६१ में, इन शब्दों में दिया है——'सत्व, रजस, तमस——इन तीनों गुणों की सम अवस्था को प्रकृति कहते हैं। प्रकृति से महान, महान से अहंकार, अहंकार से पंचतन्मात्र और दोनों प्रकार की इन्द्रियां, और तन्मात्रों से स्थूल भूत उत्पन्न हुए। इनके अतिरिक्त पुरुष है।'

यह २५ तत्वों का समुदाय है।

हम इसे निम्न रूप में देख सकते हैं :—




**५. विकास का प्रयोजन**

विकास निरा परिवर्तन नहीं; निश्चित क्रम में होने वाला परिवर्तन है। विकासवादी उस नियम की खोज करते हैं, जिसके अधीन विकास हो रहा है; नियम के अस्तित्व की बाबत तो उन्हें सन्देह नहीं होता। स्पेन्सर की हालत में यह स्पष्ट ही है। कुछ विचारक पीछे की ओर नहीं, अपितु आगे की ओर देखते हैं। उनके विचार में, किसी क्रम को समझने के लिए उसके आरम्भ की ओर नहीं, अपितु उसके अन्त की ओर देखना चाहिए। जब हम किसी यात्री से मिलते हैं, तो उससे यही पूछते हैं, 'कहां जा रहे हो?' दृष्टिकोण का यह भेद विकासवाद को 'लौकिक विकासवाद' और 'लोकान्तरिक विकासवाद', दो भिन्न रूपों में प्रस्तुत करता है। स्पेन्सर लौकिक विकासवाद का समर्थक था; हीगल ने लोकान्तरिक विकासवाद का समर्थन किया। यहां फिर सांख्य-विचार इन दोनों मतों के समन्वय का यत्न है। सांख्य के अनुसार सृष्टि या विकास एक विशेष प्रयोजन के लिए है; परन्तु अचेतन प्रकृति को इस प्रयोजन का कोई ज्ञान नहीं। यह सांख्य का 'अबोध प्रयोजनवाद' है।

प्राकृत विकास का प्रयोजन पुरुष को बन्ध से मुक्त करना है। वह इस बन्ध में फँसता कैसे है?

हम कह चुके हैं कि पुरुष और प्रकृति में कारण-कार्य का सम्बन्ध नहीं; केवल संयोग है। इस संयोग में, पुरुष की दृष्टि प्रकृति पर पड़ती है, और उसका विकास या संचार होने लगता है। पुरुष पर इस संयोग का असर क्या होता है? हम इसे एक दृष्टान्त से समझ सकते हैं।

बाजार में एक दुकान पर बड़ा शीशा लटका है। जो लोग बाजार में गुजरते हैं, उनका बिम्ब शीशे में पड़ता है। बहुतेरे लोग चुपचाप गुजर जाते हैं; कुछ लड़ते झगड़ते, रोते-चिल्लाते, हँसते-खेलते जाते हैं। इनके बिम्ब भी शीशे में पड़ते हैं।

कल्पना करें कि शीशा चेतन है, और भ्रम में समझता है कि ये बिम्ब उसकी आन्तरिक अवस्थाएं हैं। वह हर्ष, शोक, मोह में फंस जाता है क्योंकि अज्ञान में वह बाहर और अन्दर में भेद नहीं करता। यही हाल पुरुष का है। वह वास्तव में तो द्रष्टा ही है, परन्तु भ्रम में अपने आपको संसार के झमेलों में उलझा समझता है। प्रकृति का विकास नाटक के खेल की तरह है। जब तक नाटक देखने वाला नटों और नटियों को उनके वास्तविक रूप में नहीं देखता, वह उनके बनावटी हर्ष-शोक को असली समझ कर, उनके साथ हर्ष-शोक करता है। वास्तविक स्थिति को समझने पर, उस का हर्ष-शोक समाप्त हो जाता है। प्रकृति अपने विकास-रूपी नाच में, अपने आपको पुरुष पर प्रकट करती है; और पुरुष के अज्ञान को दूर करके, उसे बन्ध से मुक्त करा देती है।

परन्तु प्रकृति तो जड़ है। सांख्य 'अचेतन प्रयोजन' को स्पष्ट करने के लिए एक दृष्टान्त देता है। गौ बछड़े को जन्म देती है। उसकी आवश्यकता पूरी करने के लिए, गौ के शरीर में दूध पैदा होता है, और गौ के स्तनों में पहुंच जाता है। जिन अंगों में यह होता है, उन्हें इसका कुछ ज्ञान नहीं होता। यह सब होता प्रयोजन के अर्थ है, परन्तु इस प्रयोजन का ज्ञान गौ को नहीं। इसी प्रकार का व्यवहार प्रकृति में होता है। कारिका ६० में, कविता की भाषा में, कहा है :—

'नाना प्रकार के उपायों से, उपकारिणी गुणवती प्रकृति अनुपकारी गुणहीन पुरुष के लिए, निःस्वार्थ काम करती है।'

# चतुर्थ भाग

# आत्म-मीमांसा

# अनुभव का सामान्य विवरण

## १. मनोविज्ञान के दो रूप

श्री राम विश्वामित्र की कुटिया पर पहुंचे। कुटिया का द्वार बन्द था। श्री राम ने द्वार खटखटाया। अन्दर से आवाज आयी : 'कौन द्वार खटखटा रहा है?' श्रीराम ने कहा—'भगवन्! यही पूछने आया हूं। द्वार खटखटाने वाला, या कोई अन्य क्रिया करने वाला, कौन है?'

सुकरात अपने शिष्यों से कहता था—'अपने आपको पहचानो।' साधारण मनुष्य को न राम के प्रश्न में, और न सुकरात के आदेश में बहुत सार दिखायी देता है : हम सब अपने आपको जानते ही हैं। जो कुछ अन्य पुरुषों की बाबत जानते हैं, वह भी आत्म-ज्ञान के आधार पर ही जानते हैं। विज्ञान तो अपरिचित तथ्यों को परिचित बनाने का यत्न करता है; तत्व-ज्ञान परिचित तथ्यों को अपरिचित बनाता प्रतीत होता है। जहां सब कुछ स्पष्ट है, वहां भी यह जटिल समस्या खड़ी कर देता है। यह विचार साधारण पुरुषों को तत्व-ज्ञान के अध्ययन से दूर रखता है।

तत्व-ज्ञान का प्रमुख काम अनुभव का समाधान है। इस समाधान के सम्बन्ध में दो प्रश्न विशेष महत्व के हैं :—

(१) क्या इस समाधान में अनुभव से परे जाने की आवश्यकता है? या हम अनुभव को ही अन्तिम तथ्य समझ कर, विषय को यहीं छोड़ सकते हैं?

(२) यदि अनुभव के समाधान के लिए, अनुभव से परे किसी तत्व का मानना आवश्यक है, तो उस तत्व का स्वरूप क्या है?

'यदि अनुभव आप ही अपना समाधान है, तो हमारा सारा काम अनुभव को यथार्थ समझना है।' यह मनोविज्ञान का काम है। इस हालत में ज्ञान मनोविज्ञान ही है। और यदि अनुभव के समाधान के लिए, उसके आधार, अनुभव करने वाले की भी आवश्यकता है, तो मनोविज्ञान ही सारा ज्ञान नहीं। ज्ञान के अतिरिक्त

और इससे अधिक महत्व का विषय ज्ञाता का स्वरूप है। प्राचीन काल में यही ख्याल प्रचलित था।

मनोविज्ञान के दो रूप हैं:—

(१) अनुभव का अध्ययन। इसे 'अनुभवात्मक मनोविज्ञान' कहते हैं।

(२) अनुभव करने वाले का अध्ययन। इसे 'विवेकात्मक मनोविज्ञान' कहते हैं।

नवीन काल में पहला रूप ही मान्य हो गया है। यहां हमारा सम्बन्ध प्रायः विवेकात्मक मनोविज्ञान से है। ऐसा होने पर भी उचित यही है कि हम संक्षेप से अनुभव की बाबत भी कुछ विचार कर लें। यह विचार अनुभव करने वाले की बाबत समझने में सहायक होगा।

## २. अनुभव-अध्ययन की विधि

अनुभव को समझने के लिए स्पष्ट साधन तो यही है कि हम अपने ध्यान को अन्दर की ओर फेरें। इस क्रिया को 'अन्तरावलोचन' कहते हैं। इस क्रिया की एक बड़ी सुविधा यह है कि प्रत्येक मनुष्य जहां कहीं भी वह हो, जिस अवस्था में हो, अपनी दृष्टि को अपने अन्दर की ओर फेर सकता है, और देख सकता है कि वहां क्या हो रहा है। इस परीक्षण की योग्यता सब मनुष्यों में एक जैसी नहीं होती; तो भी कोई मनुष्य इससे सर्वथा वंचित नहीं होता। और जो कुछ वह आप साक्षात देख सकता है, उसे अन्य कोई देख नहीं सकता। मैं अपनी चेतना-अवस्थाओं को साक्षात देखता हूं; कोई दूसरा मेरे चेहरे की हालत या मेरी क्रिया से इसका अनुमान कर सकता है। इस पर भी, अन्तरावलोचन में कुछ त्रुटियां हैं, जिनकी ओर हम उदासीन नहीं हो सकते।

(१) कुछ लोग तो कहते हैं कि अन्तरावलोचन सम्भव ही नहीं। जैसे ही हम किसी अवस्था को ध्यान का विषय बनाते हैं, वह अवस्था तो भूतकाल का भाग बन जाती है, और उसका स्थान हमारा परीक्षण ले लेता है। हम जिसे अन्तरावलोचन कहते हैं, वह वास्तव में 'पश्चाद्दर्शन' है। यह स्मृति है, और हम निश्चय से नहीं कह सकते कि इस स्मृति में भूल का अंश दाखिल नहीं हो गया है।

(२) यदि हम किसी अवस्था को उसकी उपस्थिति में देख भी सकें, तो इस क्रिया से ही, उसका रूप-रंग कुछ बदल जाता है। मैं क्रोध में हूं। क्रोध का परीक्षण करने लगता हूं। ऐसा करते ही, क्रोध अपनी विशुद्ध अवस्था में कहां रहता है? उद्वेग और उसकी जांच एक साथ विद्यमान नहीं हो सकते।

(३) अन्तरावलोचन में तीसरी त्रुटि यह है कि यह अवलोचन करने वाला एक व्यक्ति ही होता है; और सम्भव है कि जो कुछ वह देखता है, वह उसकी बाबत तो सत्य हो, परन्तु सामान्य रूप में सत्य न हो। प्रत्येक के जीवन में कुछ अंश असामान्य या असाधारण भी होते हैं।

ये त्रुटियां सहयोग से दूर हो सकती हैं, और 'अन्तरावलोचन' और 'वाह्यावलोचन' के मेल से, अनुभव का यथार्थ ज्ञान सम्भव ही नहीं, सुगम हो जाता है। हम एक दूसरे के सम्पर्क में आते हैं, और अनुभवों का अदल-बदल करते हैं। अफलातूं ने अपने संवादों में इस मेल के अच्छे दृष्टान्त प्रस्तुत किये हैं।

मानव-अनुभव के अनेक प्रकटन भी हमें हर ओर दिखायी देते हैं। सभ्यता के सारे अंश इन प्रकटनों में सम्मिलित हैं। कला, साहित्य, कविता, विज्ञान आदि का अध्ययन सब हमें मानव-अनुभव की बाबत बताते हैं।

## ३. अनुभव का सामान्य विवरण

जब हम अन्दर की ओर देखते हैं, तो हमें एक प्रवाह दिखायी देता है, जो कभी रुकता नहीं। जहां हम खड़े हैं, उसे वर्तमान का नाम देते हैं, यह एक क्षणमात्र है। इसके एक ओर असीम काल है, जो बीत चुका है; दूसरी ओर असीम काल है, जो अभी आने को है। 'जहां हम खड़े हैं।' खड़े होने का तो अवसर ही नहीं; अस्थिरता चेतना-प्रवाह का तत्व है। 'जहां' शब्द स्थान का प्रतीक है। 'काल' के साथ ही हम 'देश' का चिन्तन करते हैं। 'काल' क्षणों का प्रवाह है; 'देश' बिन्दुओं का विस्तार है। 'काल' के कोई दो क्षण एक साथ विद्यमान नहीं हो सकते, आगे-पीछे का भेद इनका अनिवार्य चिह्न है। 'देश' के भाग एक साथ ही होते हैं; उनमें पहले-पीछे का भेद नहीं होता। हमारे अनुभव का प्रत्येक अंश देश और काल के साथ सम्बद्ध होता है। जो कुछ भी होता है, किसी स्थान पर, और किसी समय में होता है।

प्रत्येक अनुभव में हम एक और चिह्न देखते हैं : यह 'विषय' की ओर संकेत है। चेतना में हम चेतन और चेत्य का भेद करते हैं। चेतन और चेत्य का सम्बन्ध तीन रूप धारण कर सकता है :—

(१) सम्पर्क मात्र

(२) चेतन प्रभाव डालता है, और चेत्य प्रभाव ग्रहण करता है।

(३) चेत्य प्रभाव डालता है, और चेतन प्रभाव ग्रहण करता है।

इन तीनों अवस्थाओं को 'बोध', 'क्रिया', और 'अनुभूति' या 'संवेदन' कहते हैं।

बोध : चेतन । चेत्य

क्रिया : चेतन । चेत्य

अनुभूति : चेतन । चेत्य

मेज पर मक्खी बैठी है। मैं इसे देखता हूं। यह सम्पर्क मेरा बोध है। मैं हाथ हिला कर उसे उड़ा देता हूं। मक्खी की स्थिति में परिवर्तन हुआ है; यह मेरी क्रिया है। यदि जन्तु मक्खी नहीं, बिच्छू होता, तो मैं इसे देखते ही कुछ अशान्त हो जाता। यह संवेदन है।

तथ्य यह है कि प्रत्येक चेतना में ये तीनों पक्ष विद्यमान होते हैं। ये चेतना के भाग नहीं; जुदा न होने वाले पहलू हैं। इनका प्रभुत्व एक दूसरे की अपेक्षा बढ़ता-घटता रहता है, और इसी भेद के आधार पर, हम चेतना-अवस्थाओं को ज्ञान-क्रिया अनुभूति का नाम देते हैं।

पश्चिम में कांट से पहले, ज्ञान और क्रिया को ही स्वतन्त्र पक्षों का पद दिया जाता था; सुख-दुःख का अस्तित्व तो माना जाता था, परन्तु इनकी स्थिति ज्ञान और क्रिया के विशेषण की समझी जाती थी। कांट ने अनुभूति को भी, ज्ञान और क्रिया की भांति, चेतना का स्वतन्त्र पक्ष बताया; और अब यह स्वीकृत मत है।

भारत में, चेतना के विश्लेषण को इससे भी आगे ले गये हैं; और यह दो बातों में :—

(१) क्रिया, अपने दृष्ट रूप में, शरीर के किसी अंग का हिलाना-डुलाना है। इसके फलस्वरूप ही हम किसी अन्य पदार्थ की अवस्था को बदल सकते हैं। हमारे शरीर की क्रिया आन्तरिक उत्तेजन का परिणाम होती है। ये उत्तेजन भावात्मक या निषेधात्मक होता है। इन दोनों रूपों को इच्छा और द्वेष का नाम दिया जाता है।

(२) पश्चिम में दुःख और सुख दोनों को संवेदन के अन्तर्गत रखा गया है। इन दोनों के आपस के सम्बन्ध की बाबत मतभेद है। कुछ लोग कहते हैं कि सुख वास्तविक सत्ता है; दुःख सुख की कमी या इसके अभाव का नाम है, इसके विपरीत कुछ अन्य लोग कहते हैं कि दुःख की सत्ता में तो सन्देह हो ही नहीं सकता। जब कभी इसमें कुछ कमी होती है, तो हम इसे सुख समझ लेते हैं। आम विचार के अनुसार, सुख और दुख दोनों वास्तविक सत्ता हैं; और इनका भेद इतना मौलिक है कि इन्हें स्वतन्त्र पक्ष समझना ही उचित है।

'न्याय दर्शन' में, ऊपर की दोनों बातों को ध्यान में रखते हुए, अनुभव में छः निम्न पक्षों का वर्णन किया है :—

इच्छा, द्वेष;

प्रयत्न;

सुख, दुःख;

ज्ञान।

इन्हें आत्मा के 'लिंग' कहा गया है।

## ४. पक्षों में प्रमुख-अप्रमुख का भेद

ऊपर कहा गया है कि प्रत्येक चेतनांश में बोध, संवेदन, और क्रिया तीनों विद्यमान होते हैं, परन्तु उनकी तीव्रता एक जैसी नहीं होती। जब मैं कोई साधारण पुस्तक पढ़ता हूं, तो मैं अन्य वस्तुओं की अपेक्षा उसकी ओर ध्यान देता हूं। पुस्तक का पाठ मुझे कुछ तृप्त भी करता है, परन्तु मेरी अवस्था में ज्ञान प्रधान होता है। जब मैं किसी कठिन समस्या के हल की खोज करता हूं, तो क्रिया प्रधान होती है। जब चित्र देखता हूं, या राग सुनता हूं, तो अनुभूति प्रमुख होती है। यह भेद बहुतेरी हालतों में, समस्त जीवन के सम्बन्ध में भी दिखायी देता है। वैज्ञानिक और दार्शनिक का जीवन ज्ञान-प्रधान जीवन होता है; कलाकार के जीवन में भाव प्रधान होता है; योधा, इंजिनियर, और शासक के जीवन में क्रिया प्रधान होती है। कुछ विचारक एक पक्ष को, कुछ दूसरे पक्ष को आत्मा का तत्व बताते हैं। इन विचारों की ओर तनिक ध्यान दें।

### १. आत्मा और अनुभूति

कुछ विचारक कहते हैं कि तीनों पक्षों में अनुभूति मौलिक है, क्रिया और ज्ञान निश्चित होते हैं; उनकी सीमा स्पष्ट होती है। अनुभूति में इस प्रकार की निश्चितता और सीमा की स्पष्टता नहीं होती। विकास में भी ज्ञान और क्रिया से अनुभूति पहिले ही प्रकट होती है। बच्चा वातावरण की बाबत जानने और क्रिया करने से पहिले ही सुख-दुःख को अनुभव करता है।

अनुभूति विशेष रूप में, मनुष्य का व्यक्तिगत चिह्न है। कुछ लोग कहते हैं कि विश्व की शक्ति अपना स्थान बदलती रहती है। जब यह मेरे शरीर में से होकर गुजरती है, तो मैं, भ्रम में, इसे अपनी क्रिया समझ लेता हूं। इसी तरह कुछ लोगों का ख्याल है कि विश्व में बोध बिखरा पड़ा है। इसका कुछ भाग हमारे शरीर में भी प्रकट होता है; हम इसे अपना ज्ञान समझ लेते हैं। यह विचार ठीक हो, या न हो, इस सम्भावना को तो स्वीकार किया जाता है कि विश्व ही व्यक्ति में चिन्तन

करता, और क्रिया करता है। अनुभूति के सम्बन्ध में ऐसा विचार नहीं होता। हर एक मनुष्य समझता है कि जब वह भयभीत होता है, तो यह अवस्था उसकी ही है, किसी अन्य मनुष्य की नहीं।

जब हम किसी मनुष्य की बाबत जानना चाहते हैं, तो वास्तव में यही जानना चाहते हैं कि उसके स्थायी अनुराग क्या हैं? उसकी भावनाएं क्या हैं? अनुराग और भावना ही मनुष्य की क्रिया को निश्चित करते हैं। इनका सम्बन्ध संवेदन से है।

## २. परमात्मा और क्रिया

इस विचार के विपरीत, कुछ लोग क्रिया को आत्मा का तत्व बताते हैं। वे कहते हैं कि आत्मिक जीवन एक प्रवाह या निरन्तर गति है। अनुभूति का काम गति को आरम्भ करना है; ज्ञान का काम मार्ग दिखाना है। इन दोनों की स्थिति सहायक की स्थिति है। संकल्प आत्मा का तत्व है।

इस विचार को नवीन काल में जर्मनी के दार्शनिकों, शापनहावर और नीप्तो, ने बल से प्रस्तुत किया है। शापनहावर के विचार में विश्व शक्ति का खेल है। जब यह शक्ति चेतना से मिलती है, तो यह संकल्प का रूप धारण करती है, प्रत्येक प्राणी शक्ति को सुरक्षित रखने और उसे बढ़ाने का यत्न करता है। ऐसा करना बेसमझी है, परन्तु शक्ति समझ की परवाह नहीं करती।

कुछ लोगों के विचार में, मानसिक जीवन में मौलिक चिह्न प्रयोजन है। हम जगत में तीन प्रकार की वस्तुएं देखते हैं:—

(१) अजीव वस्तुएं,
(२) सजीव वस्तुएं,
(३) चेतन प्राणी।

अजीव वस्तुओं की हालत में हम यही देखते हैं कि एक घटना के बाद दूसरी घटना होती है। यदि शेष स्थिति पूर्ण रूप में वैसी ही हो, तो यह क्रम स्थायी होता है। सजीव वस्तुओं की हालत में, परिवर्तन एक विशेष दिशा में होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि कोई निश्चित उद्देश्य पूरा हो रहा है, यद्यपि प्राणी को इसका ज्ञान नहीं होता। मनुष्यों की हालत में, हम क्रिया को अपने असली रूप में देखते हैं। यहां प्रयत्न उद्देश्य की पूर्ति के लिए होता है। जो बात मनुष्य को अन्य प्राणियों से अलग करती है, वह चेतन चुनाव की योग्यता है; और यह चुनाव संकल्प का काम है। किसी मनुष्य के व्यक्तित्व का सार उसकी भावनाओं में नहीं, अपितु उसके चरित्र या आचार में निहित है। चरित्र निश्चित संकल्प का फल है।

दार्शनिक स्तर पर, कांट ने कहा है कि 'विशुद्ध बुद्धि' प्रकटनों की दुनिया से परे नहीं जाती; और प्रकटनों की दुनिया में नियम का शासन है। विशुद्ध बुद्धि स्वाधीनता की सम्भावना से इन्कार नहीं करती; परन्तु इसके पक्ष में कोई हेतु भी नहीं दे सकती। स्वाधीनता का निश्चय हमें 'व्यावहारिक बुद्धि' से होता है। व्यावहारिक बुद्धि संकल्प का ही दूसरा नाम है।

दार्शनिकों की अधिक संख्या संवेदन और संकल्प की अपेक्षा, ज्ञान को अधिक महत्व देती है। अनुभूति की बाबत कांट से पहले ख्याल था कि यह ज्ञान और क्रिया का लिंग या लक्षण है। अब भी कुछ मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि उद्वेग शरीर की कुछ हरकतों का बोध ही है। विलियम जेम्स कहता है कि, साधारण मनुष्य के विचार में, हम रीछ को देखते हैं, भयभीत होते हैं, कांपने लगते हैं, और भागते हैं, तथ्य यह है कि रीछ को देखने पर, हम कांपते हैं, और भागने लगते हैं। शरीर के इन परिवर्तनों का ज्ञान ही भय है। इस तरह, जेम्स उद्वेग को शारीरिक संवेदन के रूप में ही देखता है। संकल्प के साथ भी अनुभूति का सा ही सलूक होता है। हम समझते हैं कि अनेक स्थितियों में हम प्रयत्न करते हैं, और प्रयत्न संकल्प का असन्दिग्ध प्रमाण है। आंधी आती है; कमरे के द्वार खुल जाते हैं। हम उन्हें बन्द करना चाहते हैं, परन्तु अन्दर की ओर कोई कुंडी नहीं। हम अपनी सारी शक्ति से द्वार को बन्द रखने का यत्न करते हैं। यह यत्न हमारे पट्ठों में, सांस में, शरीर की स्थिति में प्रकट होता है। कुछ मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि इन परिवर्तनों का बोध ही प्रयत्न समझा जाता है।

ये तीनों विचार एक पक्ष को इतना महत्व देते हैं कि अन्य पक्षों के अस्तित्व को भूल ही जाते हैं। तथ्य यह है कि अनुभव में भाव, क्रिया, और ज्ञान तीनों विद्यमान हैं। उनका बल एक दूसरे की अपेक्षा बढ़ता-घटता रहता है, परन्तु किसी अवस्था में भी किसी पक्ष का अभाव नहीं होता। प्रत्येक रेखा में मात्रा और दिशा अनिवार्य रूप से विद्यमान होती है। मात्रा न रहे, तो दिशा भी नहीं रहती, दिशा न रहे, तो मात्रा भी नहीं रहती। इसी तरह, प्रत्येक अनुभव में तीनों पक्ष एक साथ रहते हैं। ये अनुभव के भाग नहीं, पृथक न होने वाले पक्ष हैं।

## ५. चेतना से नीचे

साधारण बोलचाल में हम मन और चेतना को एक ही विस्तार या क्षेत्र देते हैं। जहां चेतना है, वहां मन है; जहां चेतना नहीं, वहां मन भी नहीं। नवीन मनोविज्ञान इन दोनों में भेद करता है। मैं इस समय एक विशेष विषय पर लिख रहा हूं। यह विषय मेरी चेतना में है। यदि कोई मुझसे पूछे कि भारत का प्रधान कौन है, तो मैं

उसे बता सकता हूं। मैं प्रश्न पूछे जाने के पहिले प्रधान के नाम का ध्यान नहीं कर रहा था, परन्तु बिना यत्न के इसे बता सकता हूं। यह नाम और अगणित और नाम मेरी स्मृति में हैं। मेरे ज्ञान का बड़ा भाग भी इसी तरह मेरे मन में विद्यमान है। कुछ बातें ऐसी भी हैं, जो मेरे ज्ञान में थीं, परन्तु अब बिना यत्न के याद नहीं होतीं। कुछ यत्न करने पर भी याद नहीं आतीं, और कभी अकस्मात ही चेतना में आ पहुंचती हैं। मन चेतना से परे भी है। मन के अचेत भाग में, कुछ अनुभव चेतना की देहली के नीचे ही मौजूद रहते हैं; कुछ मन की गहराई में दबे से होते हैं।

मन का क्षेत्र चेतना से परे भी है। इसका एक और उदाहरण संस्कारों में मिलता है। जब किसी वस्तु पर बाहर से क्रिया होती है, तो यह उस वस्तु में कुछ स्थायी परिवर्तन कर देती है। जब कागज का एक टुकड़ा तह किया जाता है, तो उसकी स्थिति पहिली स्थिति नहीं रहती। मानव के तन्तु-जाल में ऐसा परिवर्तन सबसे अधिक होता है। हमारा प्रत्येक अनुभव अपने पीछे संस्कार छोड़ जाता है। ये संस्कार अनुभव नहीं होते; अनुभवों का फल होते हैं, और नये अनुभवों के प्रस्तुत करने में साधन भी बनते हैं। जिस बच्चे को बार-बार डराया जाय, वह कायर बन जाता है। भय एक अनुभव है, जो किसी विशेष काल में व्यक्त होता है; कायरता ऐसा अनुभव नहीं; यह एक स्थायी प्रवृत्ति है। विशेष अनुभव चेतना का अंश होते हैं; संस्कार मन के अचेत भाग में विद्यमान हैं। लाइबनिज ने अचेत मानसिक अवस्थाओं के एक और रूप की ओर संकेत किया है। जब हम समुद्र के किनारे, उसकी लहरों की आवाज सुनते हैं, तो उस आवाज में अगणित लहरों के उत्पन्न किये हुए शब्द सम्मिलित होते हैं। इन शब्दों को अलग-अलग हम सुन नहीं सकते, क्योंकि यह अति धीमे होते हैं। लाइबनिज के विचारानुसार, ये अचेत शब्दांश भी मानसिक प्रवाह का भाग होते हैं।

अचेत मन ने, नवीन मनोविज्ञान में, फ्राइड और उसके अनुयायियों की खोज के कारण विशेष महत्व प्राप्त कर लिया है। बर्फ का बड़ा कुंदा समुद्र में तैर रहा है। बर्फ पानी से हलकी होती है, इसलिए कुंदे का कुछ भाग पानी के तल से ऊपर होता है। कुंदे का बड़ा भाग डूबा होता है, और दिखायी नहीं देता। इस पर भी कुंदे की गति उसी भाग पर निर्भर होती है। फ्राइड के विचार में, मन की स्थिति भी ऐसी ही है, इसका अल्प भाग चेतन है; इस भाग के नीचे अचेत है, जिसकी बाबत चेतन भाग को ज्ञान नहीं होता। अचेत चेतन मन पर निरन्तर प्रभाव डालता रहता है, और जब अवसर पाता है, तो बदले हुए भेष में चेतना में व्यक्त भी हो जाता है। अचेत को कब्र में दबा दिया गया है; परन्तु वह मरा नहीं, जीवित है।

'अचेत' बनता कैसे है?

चेतना की कुछ अवस्थाएं ऐसी होती हैं, जिन्हें समाज अश्लील समझता है, या जो प्रचलित मर्यादा के प्रतिकूल होती हैं। ये अवस्थाएं व्यक्ति के मन में व्यक्त होती हैं; परन्तु वह देखता है कि इन्हें न रोकना उसे समाज दृष्टि में गिरा देता है। वह इन अवस्थाओं को दबा रखना चाहता है। उसका यत्न सफल होता है, और समय बीतने पर, उसे इनकी याद भी नहीं रहती। इनकी स्थिति उन बन्दियों सी होती है, जो कारागार से निकलना चाहते हैं, परन्तु पहरेदार की चौकसी से बच नहीं सकते। और कुछ न कर सकें, तो सचेत मन के लिए कंटक तो बन ही सकते हैं। सचेत मन पर उनका प्रभाव कई रूपों में पड़ता है। बिना किसी ज्ञात कारण के, कभी-कभी मनुष्य के स्वभाव में असह्य चिड़चिड़ापन प्रकट हो जाता है। साधारण अवस्था में, 'अचेत' स्वप्न में प्रकट होता है, या बोलचाल और लेख की भूलों में व्यक्त होता है। मानसिक रोगों के निश्चय करने में, स्वप्न या ऐसी भूलों की जांच बहुत लाभदायक होती है।

नवीन मनोविज्ञान ने अनुभव के क्षेत्र को विस्तृत कर दिया है; इसमें चेतन और अचेत दोनों प्रकार की अवस्थाएं सम्मिलित हैं।

# आत्मा का स्वरूप-निरूपण (१)

## १. अन्न और अन्नाद

'वृहदारण्यक' उपनिषद में कहा है कि विश्व में जो कुछ भी है, अन्न है या अन्नाद (अन्न को खाने वाला) है। दार्शनिक परिभाषा में, हम कह सकते हैं कि समस्त सत्ता भोक्ता और भोग्य, ज्ञाता और ज्ञेय, से बनी है। इन दोनों का सम्बन्ध भोग या ज्ञान है। इसी को अनुभव कहते हैं। इससे पहिले हम अन्न, भोग्य या ज्ञेय की बाबत कुछ विचार कर चुके हैं। पिछले अध्याय में भोग या अनुभव हमारे अध्याय का विषय था; अब हम भोक्ता की ओर आते हैं।

जैसा हम देख चुके हैं, 'वैशेषिक' दर्शन दृष्ट जगत में तीन 'पदार्थों' का वर्णन करता है—द्रव्य, गुण, और कर्म। अफलातूं और अरस्तू ने भी परतम वर्गों की सूचियों में द्रव्य को प्रथम स्थान दिया है। डेकार्ट ने द्रव्य में चेतन और अचेतन, आत्मा और प्रकृति, का भेद किया। उसके पीछे स्पीनोजा और लाइबनिज ने अद्वैत को स्वीकार किया। स्पीनोजा ने अकेले द्रव्य में गुणों के अस्तित्व को आवश्यक समझा; लाइबनिज ने अनेक द्रव्यों में क्रिया को आवश्यक बताया। दार्शनिकों में बहुमत, 'वैशेषिक' के साथ, गुणों और क्रिया दोनों को द्रव्य के अनिवार्य चिह्न मानता है। 'बहुमत'—क्योंकि कुछ विचारक सत्ता को केवल गुणों तक, और कुछ केवल क्रिया तक सीमित करते हैं। वर्तमान अध्याय में, हम उन विचारकों की बाबत कहेंगे, जो आत्मा को द्रव्य के रूप में देखते हैं।

## २. द्रव्य क्या है ?

साधारण बोलचाल में हम द्रव्य को गुणों का सहारा या आलम्बन कहते हैं। इसका अर्थ यह है कि द्रव्य और गुण में द्रव्य प्रमुख और गुण गौण है। कोई गुण अपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रखता; यह किसी द्रव्य या पदार्थ, में उसके विशेषण के रूप में ही विद्यमान होता है। प्रत्येक पदार्थ में अनेक गुण विद्यमान होते हैं। इनमें से कुछ अन्य

पदार्थों में भी पाये जाते हैं। इस समानता के आधार पर हम पदार्थों को श्रेणियों में विभक्त करते हैं। प्रत्येक भेड़ में कुछ गुण ऐसे हैं, जो उसे भेड़ बनाते हैं, और गौओं और घोड़ों से पृथक करते हैं। इनके अतिरिक्त कुछ गुण ऐसे भी हैं, जो उसे अन्य भेड़ों से अलग करते हैं। जो गुण किसी पदार्थ में पाये जाते हैं, उनमें कुछ परिवर्तन भी होता रहता है, परन्तु ऐसा होते हुए भी, उस पदार्थ का व्यक्तित्व बना रहता है। दृष्टान्त के लिए एक कुर्सी को लें। यह लकड़ी की बनी है। कहीं-कहीं लोहे की कील भी इसमें लगी हैं। इसके विभिन्न भागों में एक अनुरूपता है। यह मेरे परिमाण के पुरुष के बैठने के लिए बनायी गयी है। वास्तव में जिन परमाणुओं से यह बनी है, वे दो क्षणों के लिए भी स्थायी नहीं रहते। कुर्सी पर मिट्टी पड़ती है; मक्खियां बैठती हैं; कुछ मरम्मत भी होती है। परन्तु हम यही कहते हैं कि कुर्सी वही है, जो पहिले थी। जब तक उसका प्रमुख भाग स्थिर रहता है, और भागों की अनुरूपता में बहुत परिवर्तन नही होता, हम कुर्सी की एकता और उसकी निरन्तरता में सन्देह नहीं करते। दैनिक व्यवहार के लिए ऐसा करना अनुचित नहीं।

परन्तु तार्किक दृष्टि से देखें, तो कुर्सी में न एकता है, न निरन्तरता है। यह दोनों द्रव्य का तत्व समझे जाते हैं। प्राकृत जगत में, द्रव्य को ढूंढना हो, तो मिश्रित पदार्थों से परे, उनके सरल अंशों, परमाणुओं, की ओर देखना चाहिए। परमाणुओं में ही एकता और स्थिरता मिलती हैं; दृष्ट पदार्थ तो सभी प्राकृत द्रव्यों के समूह हैं।

अब बाहर से हटा कर, ध्यान को अन्दर की ओर फेरें। यहां अनुभवों का ज्ञान होता है। प्रत्येक अनुभव में उसका व्यक्तित्व दिखायी देता है, परन्तु स्थिरता तो नहीं दिखायी देती। एक चेतना-अवस्था के बाद दूसरी आती है; दूसरी के बाद तीसरी आती है, और यह क्रम जारी रहता है। यह मेरी हालत में होता है; यही अन्य मनुष्यों की हालत में होता है। इन सारी चेतना-अवस्थाओं में, एक विचित्र विलक्षणता दिखायी देती है। सरलता के लिए कल्पना करें कि एक घण्टे में प्रत्येक मन में, १०० चेतना-अवस्थाएं प्रकट होती हैं, और एक स्थान, में ४० पुरुष बैठे हैं। वहां कुल ४००० चेतना-अवस्थाएं प्रकट होगीं। ये अवस्थाएं न तो सब एक दूसरे से असंगत होती हैं, और न ही सभी एक संगठन में होती हैं।

क, ख, घ ......एक समूह बनाती हैं।

क' ख' घ' ......दूसरा समूह बनाती हैं।

क'' ख'' घ'' ...... तीसरा समूह बनाती हैं।

इस तरह, ४००० अवस्थाएं ४० समूहों में मिलती हैं; और आश्चर्य यह है कि यह विभाग ४० शरीरों से सन्तुलित होता है। इन समूहों का आन्तरिक सम्बन्ध अति

घनिष्ट होता है। हम इन समूहों में से प्रत्येक को एक जीवात्मा के अनुभव कहते हैं। फूल में अनेक गुण सम्मिलित मिलते हैं; प्रत्येक आत्मा में अनेक अनुभवों की लड़ी मिलती है। मेरा भूत मेरे वर्तमान के साथ बंधा है; मेरे पड़ोसी का भूत उसके वर्तमान से बंधा है। इस तरह, आत्मा में एकता और स्थिरता, जो द्रव्य के प्रमुख चिह्न हैं, दिखायी देते हैं।

## ३. आत्मा के अस्तित्व में प्रमाण : डेकार्ट

दर्शन के लिए प्रत्येक धारणा युक्ति-युक्त होनी चाहिए। हम अपने अस्तित्व के पक्ष में क्या हेतु दे सकते हैं? साधारण मनुष्य को तो यह प्रश्न हंसी का विषय प्रतीत होता है। विवेचन भी कहेगा कि यह प्रश्न ही हमारे अस्तित्व का स्पष्ट प्रमाण है। रोगी वैद्य से पूछता है कि उसके स्वस्थ हो जाने की कितनी सम्भावना है। वैद्य उसे उत्तर दे देता है। यदि वह वैद्य से पूछे कि क्या वह जीवित है, या मर चुका है, तो वैद्य के लिए इतना कहना ही पर्याप्त है कि यह प्रश्न ही अपना उत्तर है। नवीन दार्शनिकों में, डेकार्ट ने आत्मा के अस्तित्व के पक्ष में इसी प्रकार का विचार प्रकट किया है, डेकार्ट को नवीन तत्व-ज्ञान का पिता कहा जाता है। उसने जिस विचार-धारा को आरम्भ किया, वह देर तक तात्विक विचार का केन्द्र बनी रही। अब हम डेकार्ट के सिद्धान्त को देखते हैं।

डेकार्ट की अपनी शिक्षा में गणित प्रधान विषय था। उसने तत्व-ज्ञान को गणित के ढांचे में ढालना चाहा। इस प्रवृत्ति के कारण, उसने तत्व-ज्ञान में संकुचित दृष्टि-कोण को अपनाया, और कहा कि सत्य को जानने की राय ही विधि है, और वह गणित की विधि है। गणित में हम स्वतः-सिद्ध धारणाओं से आरम्भ करते हैं, और उनकी नींव पर भवन खड़ा करते हैं। यह भी आवश्यक होता है कि हम अपने अनुसन्धान में ऐसी विधि पर चलें, जिसमें किसी प्रकार के भ्रम का अवकाश ही न रहे। ऐसी विधि में, डेकार्ट ने चार निम्न 'नियम' बयान किये :—

(१) मैं किसी धारणा को सत्य स्वीकार नहीं करूंगा, सिवाय उस हालत के कि मुझे इसके सत्य होने का पूरा विश्वास हो जाय। अन्य शब्दों में, मैं उतावली और पक्षपात से बचूंगा; और उसी हालत में किसी धारणा को मानूंगा, जबकि यह मेरी बुद्धि को ऐसी स्पष्ट दिखायी दे कि इसमें सन्देह की सम्भावना ही न हो।

(२) मैं प्रत्येक कठिन प्रश्न को विश्लेषण से इतने सरल प्रश्नों में विभक्त करूंगा, जितनों से प्रश्न के हल होने में सुगमता हो।

(३) मैं अपनी खोज में, सरल समस्याओं से आरम्भ करके पेचीली समस्याओं

की ओर चलूंगा, और जहां नियम विद्यमान नहीं, वहां अध्ययन के विषय को नियमित बनाऊंगा।

(४) मैं किसी समस्या के समाधान में सारी विचारणीय बातों को ध्यान में रखूंगा, और यत्न करूंगा कि कोई पक्ष बाकी न रह जाय।

इन नियमों में पहिला नियम हमारे लिए विशेष महत्व का है। तत्व-ज्ञान की बाबत डेकार्ट ने कहा :—

'सारे युगों में, अति प्रसिद्ध पुरुषों ने तत्व-ज्ञान को विचार का विषय बनाया है; और इस पर भी, कोई बात भी ऐसी नहीं, जो आज भी निर्विवाद और असन्दिग्ध हो। मुझे यह भी ख्याल नहीं कि जहां इतने बड़े पुरुष सफल नहीं हुए, मैं सफल हो सकूंगा। प्रत्येक विषय के सम्बन्ध में इतने भिन्न विचार हैं, और उनमें से हर एक को विद्वान समर्थक मिले हैं। इसे देखकर मुझे ध्यान आया कि इन विरोधी विचारों में एक ही सम्भवतः सत्य हो सकता है। मैंने निश्चय किया कि जहां केवल सत्य की सम्भावना ही हो, उसे असत्य समझ लूं।'

जब हम सन्देह की पकड़ में आ जायं, तो हमारे लिए दो मार्ग खुले होते हैं :—

(१) जिस धारणा के मानने में कोई कठिनाई नहीं, उसे मानते रहें।

(२) किसी धारणा को भी, जिसकी बाबत सन्देह की सम्भावना है, न मानें।

डेकार्ट ने अपने लिए दूसरा मार्ग अंगीकार किया, चूंकि प्रत्येक धारणा में सन्देह की सम्भावना होती ही है, उचित यही है कि व्यापक सन्देह से आरम्भ करें। मैं एक समकोण चतुर्भुज को देख रहा हूं। ऐसा मुझे प्रतीत होता है, परन्तु क्या इस अनुभव में सन्देह के लिए कोई स्थान नहीं?

यह सम्भव है कि वास्तव में कोई समकोण विद्यमान नहीं, और मेरी कल्पना एक चित्र की रचना कर रही है।

यह सम्भव है कि मैंने समकोण देखा है, परन्तु इसे देखने के बाद, अनजाने में मेरी दृष्टि जाती रही है, और मैं कल्पना को प्रत्यक्ष समझ रहा हूं।

यह भी सम्भव है कि बाहर एक आकृति मौजूद है, परन्तु मैं न चार तक ठीक गिन सकता हूं, न भुजाओं या कोणों की समता की बाबत निर्णय कर सकात हूं।

सरल मार्ग यही है कि अपने अस्तित्व, विश्व के अस्तित्व, परमात्मा के अस्तित्व सब कुछ को अनिश्चित ही समझा जाय।

डेकार्ट को शीघ्र ही सूझा कि वह सन्देह तो कर ही रहा है; इस सन्देह की सत्ता में सन्देह नहीं हो सकता। सन्देह एक प्रकार का चिन्तन है। इसलिए चिन्तन का

अस्तित्व मानना ही पड़ता है। डेकार्ट का पहला सत्य, जो हर प्रकार के सन्देह से ऊपर है, यह था :—

'मैं चिन्तन करता हूं; इसलिए मैं हूं।'

साधारण दृष्टि में यह एक अनुमान दिखायी देता है :—

'जो कुछ चिन्तन करता है, वह सत्य है।'

'मैं चिन्तन करता हूं;

इसलिए, मैं सत्य हूं।'

यह अनुमान तो निर्दोष है, परन्तु कुछ आलोचक कहते हैं कि डेकार्ट ने 'चिन्तन' के असन्दिग्ध तथ्य से 'चिन्तन' तक जा पहुंचने में, अपने प्रथम नियम को ध्यान में नहीं रखा। उसने फर्ज कर लिया है कि कोई क्रिया निराधार नहीं हो सकती, और इसे द्रव्य के आश्रय की आवश्यकता है। तथ्य यह है कि डेकार्ट ने 'स्पष्ट विचार' को अपना पथ प्रदर्शक स्वीकार किया, और कई स्वतः-सिद्ध धारणाओं को माना। उनमें से कुछ धारणाएं ये हैं :—

(१) जो कुछ भी है, अपने होने के लिए कोई कारण रखता है।
(२) 'अभाव' से कोई वस्तु, जिसका अस्तित्व है, उत्पन्न नहीं हो सकती।
(३) प्रत्येक वस्तु अपने कारण में आकृत रूप से विद्यमान है।
(४) द्रव्य में, गुणों की अपेक्षा अधिक सत्ता है।

हमारे सामने प्रश्न यह है कि मौलिक तथ्य, जिससे डेकार्ट ने आरम्भ किया है, क्या है?

'मैं चिन्तन करता हूं, इसलिए मैं हूं।'

इस वाक्य को दो अर्थों में समझा जा सकता है : एक अनुमान के रूप में, दूसरा व्याख्या के रूप में। दूसरे अर्थ में हम कहते हैं—'मैं चिन्तन करता हूं; अन्य शब्दों में, मैं हूं।'

अनुभव का मौलिक तथ्य क्या है? इसमें मतभेद है। कुछ लोग कहते हैं कि तथ्य तो इतना ही है कि बोध है, सुख-दुःख की अनुभूति है, संकल्प या क्रिया है। इन अनुभवों में, और इन जैसे अन्य अनुभवों में, हम, सम्बन्ध प्रविष्ट करके, चिन्तन आत्मा का प्रत्यय बनाते हैं; और कहते हैं कि 'हम' हैं। दूसरा ख्याल यह है कि मौलिक तथ्य यह नहीं कि ज्ञान है, अपितु यह कि मैं जानता हूं; यह नहीं कि सुख-दुःख है, अपितु यह कि मैं सुखी या दुःखी हूं। मौलिक तथ्य यह नहीं कि सन्देह है, अपितु यह कि मैं सन्देह में हूं। यह डेकार्ट का विचार प्रतीत होता है। इसे ध्यान में रखें, तो यह

आक्षेप निराधार है कि डेकार्ट ने चेतना-अवस्था से उलांघ कर चेतन-द्रव्य तक जा पहुंचने में अपने प्रथम नियम को भुला दिया।

डेकार्ट ने चिन्तन को विस्तृत अर्थों में लिया : इसमें बोध के साथ, अनुभूति और क्रिया को भी सम्मिलित किया। ऐसे चिन्तन को उसने चेतन आत्मा का अकेला विशेषण बताया। मैं चेतन पदार्थ हूं। साधारण विचार में, मैं अपने आपको आत्मा + शरीर समझता हूं; और इन दोनों की निश्चितता में कोई भेद नहीं करता।

डेकार्ट ने इन दोनों की स्पष्टता में भेद किया। वह कहता है कि चिन्तन और चिन्तक के अस्तित्व में सन्देह की सम्भावना ही नहीं; परन्तु मानव शरीर की बाबत यह नहीं कह सकते। शरीर प्राकृत जगत का अंश है। मुझे प्रतीत होता है कि जगत की वास्तविक सत्ता है। मैं ख्याल करता हूं कि यह सत्ता भ्रम-मात्र नहीं, क्योंकि परम पवित्र परमात्मा के राज्य में मुझे ऐसा स्थायी धोखा नहीं हो सकता। परन्तु यह भी सम्भव है कि कोई द्रोही आत्मा, जिसकी शक्ति असीम है, मुझे निरन्तर धोखे में रखता है। ऐसे द्रोही आत्मा की निस्सीम शक्ति भी मुझे अपने चिन्तन की बाबत धोखा नहीं दे सकती। यदि मैं चिन्तन करता हूं, तो मेरा चिन्तन निर्मूल हो सकता है, परन्तु चिन्तन तो होता ही है।

जब हम किसी वाह्य पदार्थ की बाबत विचार करते हैं, तो, इस विचार-क्रिया में अपने मन की बाबत भी हमारा ज्ञान बढ़ता जाता है। सारा ज्ञान आत्म-ज्ञान भी है।

डेकार्ट के मत का सार यह है :—

(१) हमें अपने अस्तित्व में सन्देह हो ही नहीं सकता। सन्देह आपही सन्देह करने वाले के अस्तित्व का अकाट्य प्रमाण है।

(२) हम अपने आपको किसी अन्य पदार्थ से प्रथम जानते हैं, और उससे बेहतर जानते हैं।

(३) अन्य पदार्थों के जानने में हमारा आत्म-ज्ञान भी बढ़ता जाता है।

## ४. सांख्य-सिद्धान्त

सांख्य-सिद्धान्त में निम्न बातों पर विशेष बल दिया गया है :—

(१) पुरुष और प्रकृति दो मौलिक तत्व हैं। इनमें जाति-भेद है : पुरुष चेतन है, प्रकृति जड़ है।

(२) पुरुष अनेक हैं। न किसी पुरुष के टुकड़े हो सकते हैं, न एक से अधिक पुरुष संयुक्त होकर, कोई नया पुरुष बना सकते हैं।

(३) प्रकृति एक है। वह पुरुष की दृष्टि पड़ने पर, २३ रूप धारण करती है। इन्हें प्रकृति के विकार या विकृति कहते हैं।

(४) प्रकृति के विकास में कोई निरपेक्ष नूतनता प्रकट नहीं होती; कार्य-कारण पहिले से ही विद्यमान है। जो अव्यक्त था, वह व्यक्त हो जाता है।

यहां हमें पहले दो विषयों की बाबत विचार करना है। सांख्य आत्मा को चेतन या अप्राकृत बताता है। यही डेकार्ट का मत है। प्रकृति में जो विकार होता है, उसका कारण आत्मा और प्रकृति का संयोग है। पुरुष की दृष्टि न पड़े, तो प्रकृति में परिवर्तन का आरम्भ ही नहीं हो सकता। ऐसे संयोग से अधिक पुरुष का प्रकृति के साथ सम्बन्ध नहीं। डेकार्ट ने आत्मा और प्रकृति के भेद को इतना बढ़ा दिया कि वह इनके कारण-कार्य सम्बन्ध को समझ नहीं सका। सांख्य ने इस सम्बन्ध को स्वीकार ही नहीं किया; परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि किसी प्रकार के सम्बन्ध को भी स्वीकार नहीं किया। प्रकृति का विकास पुरुष की दृष्टि में हुआ। यह सांख्य में अध्यात्म-वाद का अंश है।

डेकार्ट ने अपने सिद्धान्त को मनन की नींव पर निर्मित किया। मनन व्यक्तिगत क्रिया है। डेकार्ट की व्याख्या में बार-बार 'मैं' शब्द का प्रयोग होता है। उसने अपना मनन आरम्भ ही इसलिए किया था कि उसे अन्य विचारकों के विचारों में इतना भेद और विरोध दिखलायी दिया। उसने अपने अस्तित्व, परमात्मा के अस्तित्व, प्राकृत जगत की बाबत कहा, परन्तु अन्य आत्माओं की बाबत विचार करने की आवश्यकता नहीं समझी। सांख्य ने एकवाद-अनेकवाद के प्रश्न को महत्व दिया है। सांख्य के मतानुसार जीवात्मा अनेक हैं। जैसा हम आगे देखेंगे, कुछ विचारक कहते हैं कि सारे जीवात्मा एक आत्मा के ही अनेक रूप हैं। सांख्य इस ख्याल को स्वीकार नहीं करता। वह मनुष्यों की स्थितियों के भेद की ओर से आंखें बन्द नहीं करता। मेरा जीवन एक विशेष समय में आरम्भ हुआ, और एक विशेष काल में समाप्त हो जायगा। अन्य मनुष्यों के जीवन का आरम्भ और अन्त मेरे जीवन के आरम्भ और अन्त के साथ नहीं होता। जीवन में भी मेरी स्थिति दूसरों की स्थिति से भिन्न है। मैं यह लेख इस ख्याल से लिख रहा हूं कि कुछ लोग इसे पढ़ेंगे, क्योंकि उनके लिए इसमें कुछ नयी बात होंगी। मनुष्यों के झगड़ों का एक कारण यह है कि उनके स्वभाव नहीं मिलते। कर्म-भेद के कारण, एक पुरुष न्यायालय में दोषी के रूप में पेश होता है; दूसरा उस पर दोष लगाता है; कुछ लोग एक ओर से, कुछ दूसरी ओर से साक्षी बनते हैं। न्याया-धीश सब कुछ सुनता है, और अपना निर्णय देता है, जो ठीक भी हो सकता है, और गलत भी हो सकता है। सारा सामाजिक व्यवहार अनेकवाद की स्वीकृति पर निर्भर है।

कुछ आलोचक कहते हैं कि सांख्य में जो कुछ अनेकवाद के पक्ष में कहा है, वह शरीर से सम्बद्ध जीवात्मा की बाबत कहा है; 'पुरुष' की बाबत नहीं कहा। सांख्य का पुरुष तो 'कर्त्ता' नहीं, केवल द्रष्टा है, और स्थितियों के भेद से परे है।

## ५. 'न्याय' सिद्धान्त

न्याय-दर्शन में आत्मा के द्रव्यत्व की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। कुछ लोग कहते हैं कि अनुभवों का अस्तित्व तो असन्दिग्ध है; परन्तु इनके अतिरिक्त, अनुभव करने वाले का अस्तित्व कल्पना-मात्र है। न्याय-दर्शन इस धारणा को अमान्य बताता है। आत्मा के द्रव्य होने के पक्ष में, न्याय निम्न हेतु देता है:—

(१) हमारे अनुभव का मूल इन्द्रिय-जन्य ज्ञान है। ज्ञानेन्द्रियों से जो कुछ हमें स्पष्ट उपलब्ध होता है, वह सारा एक प्रकार का नहीं होता। आंख से हम रूप-रंग को देखते हैं; कानों से शब्द सुनते हैं; नाक से गन्ध लेते हैं। इन सब उपलब्धों में जाति-भेद है। जैसा एक लेखक ने कहा है, 'ये गुण एक दूसरे में घुस नहीं सकते।' रूप शब्द से अलग है; और ये दोनों गन्ध और रस से अलग हैं, मनोविज्ञान कहता है कि किसी अकेले गुण का बोध अब एक मानव-कल्पना है। मैं हरापन नहीं देखता; किसी वस्तु को हरा देखता हूं। मैं मिठास का अनुभव नहीं करता, किसी वस्तु को मीठा पाता हूं। मेरा ज्ञान आरम्भ में कुछ भी हुआ हो, अब यह ज्ञान गुणों का नहीं, गुणवन्त पदार्थों का ज्ञान है। पदार्थों का प्रत्यक्ष कैसे होता है? विविध इन्द्रियां विशेष गुणों की बाबत बताती हैं; इन विशेष गुणों को सूत्र में पिरोना, उन्हें एक वस्तु में देखना मन या आत्मा का काम है। आत्मा इन्द्रियों से पृथक न हो, तो पदार्थों का ज्ञान हो ही नहीं सकता। हमारा ज्ञान पदार्थों का ज्ञान है। ऐसे ज्ञान की सम्भावना ज्ञाता के अस्तित्व और उसकी क्रिया पर निर्भर है।

(२) हमारा प्रत्यक्ष एक तरह से अनुभव-बिन्दु है, जो वर्तमान में व्यक्त होता है। परन्तु हम अनुभव को वर्तमान क्षण तक सीमित नहीं करते। मैं जो कुछ लिख रहा हूं, वह वर्तमान क्षण का अनुभव नहीं; वर्षों के अध्ययन और मनन का फल है। बर्गसाँ ने स्मृति को मानसिक जीवन का रहस्य बताया है। स्मृति का अर्थ क्या है? मुझे इस समय एक अनुभव होता है और मैं कहता हूं कि ऐसा अनुभव पहिले भी हो चुका है। पहिला अनुभव विनष्ट नहीं हो गया; किसी रूप में विद्यमान है। वर्तमान अनुभव से मैं बीते हुए अनुभव की तुलना करता हूं, और उनके सादृश्य की बाबत निर्णय करता हूं। यह तभी हो सकता है जब वर्तमान अनुभव और बीता हुआ अनुभव एक ही अनुभवी के अनुभव हों। तुलना करने वाला, और उनमें सादृश्य देखने

वाला, उन अनुभवों से अलग होता है। अनुभव क्षणिक होते हैं; अनुभव करने वाल स्थायी होता है।

(३) संसार में जो कुछ हो रहा है, उसके दो रूप हैं—केवल घटना और क्रिया। प्राकृत परिवर्तन केवल घटनाएं हैं; क्रिया चेतन के प्रयत्न का परिणाम है। प्राकृत घटना को हम निरे तथ्य के रूप में देखते हैं, मानव क्रिया में गुण-दोष का भेद करते हैं। हम समझते हैं कि क्रिया का कर्त्ता उसके फल का भागी है। हमारे अनुभव में भले-बुरे का भेद एक स्पष्ट चिह्न है। 'नीति' मनुष्य की प्रकृति का अंश है। मनुष्यों में यह विश्वास व्यापक है कि शुभ और अशुभ का भेद वस्तुगत है, और हमारा कर्तव्य है कि शुभ कर्म करें, अशुभ कर्मों से बचें। अकेले अनुभवों के सम्बन्ध में उत्तरदायित्व का प्रत्यय लागू ही नहीं होता; यह स्थायी कर्त्ता पर ही लागू हो सकता है। भले-बुरे कर्मों के फल में जो व्यापक विश्वास मनुष्यों में पाया जाता है वह बताता है कि मानव में अस्थायी अनुभवों के अतिरिक्त कोई स्थायी तत्व भी विद्यमान है। इसी को जीवात्मा कहते हैं।

# आत्मा का स्वरूप (२)

## प्रवाहवाद

पिछले अध्याय में हमने उन दार्शनिकों की बाबत कहा है, जिनके मत में आत्मा द्रव्य है। द्रव्य के दो प्रमुख चिह्न हैं—वह एकरूप है, और समय की गति के साथ उसमें परिवर्तन नहीं होता। अब हम ऐसे विचारकों की ओर आते हैं, जो न आत्मा की एकता को मानते हैं, और न यह स्वीकार करते हैं कि वह हर प्रकार के परिवर्तन से परे है। अन्य शब्दों में, वे आत्मा के द्रव्यत्व से इन्कार करते हैं।

द्रव्य के प्रत्यय की तह में प्रमुख ख्याल यह है कि गुण और क्रिया किसी आश्रय के बिना हो नहीं सकते। जो विचारक वर्तमान अध्याय में अध्ययन के विषय हैं, वे इस धारणा को स्वीकार नहीं करते। वे कहते हैं कि अनुभव को किसी अनुभव करने वाले की आवश्यकता नहीं; वह आप अपने समाधान के लिए पर्याप्त है। पश्चिमी दार्शनिकों में ह्यूम ने इस मत का समर्थन किया; भारत में बौद्धों ने इसका प्रसार किया। इन दोनों के मत पर कुछ विचार करें।

## १. ह्यूम का मत

**१. सामान्य विवरण**

ह्यूम ने लाक के काम को जारी रखा, और अनुभववाद को उसकी सीमा तक पहुंचा दिया। इसके विचार में, हम जो कुछ भी जान सकते हैं, वह बाहर से प्राप्त होता है। 'जो कुछ पहले इन्द्रियों में था, वही बुद्धि में हो सकता है।' अन्त में ज्ञान परीक्षण ही है। जो ज्ञान हमें बाहर से उपलब्ध होता है, उसका चित्र भी स्मृति, पदार्थों की अनुपस्थिति में, हमारे सम्मुख रख देती है। हम भेड़, बकरी आदि पशुओं को देखते हैं। जब आंखें बन्द करते हैं, या ये पदार्थ हमारे सामने नहीं रहते, तो भी इनके चित्र हमारी ज्ञान-धारा का भाग बनते हैं। प्रत्यक्ष और स्मृति के अतिरिक्त, ज्ञान का एक तीसरा स्रोत हमारी कल्पना है। यह भेड़, बकरी, घोड़े, ऊंट के कुछ

भागों को, उनके अन्य भागों से अलग कर के, संयुक्त करती है, और इस तरह हमारे लिए एक नया पशु बना देती है। ऐसा पशु कुदरत ने अभी तक नहीं बनाया, परन्तु सम्भावना की दुनिया में तो इसके लिए स्थान है। कुछ मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि कल्पना निर्माण नहीं करती; केवल सम्भावना की दुनिया में किसी ऐसे पदार्थ को देखती है, जो वास्तविकता की दुनिया में विद्यमान नहीं।

ह्यूम कहता है कि इन्द्रियां, स्मृति और कल्पना जो कुछ भी हमें बताती हैं, वह 'विशेष' ('यह' या 'वह') है। हम किसी विशेष घोड़े को, किसी विशेष त्रिकोण को, किसी विशेष राज्य को देख सकते हैं; 'घोड़े', 'त्रिकोण', 'राज्य' को देख नहीं सकते, क्योंकि इनका कोई अस्तित्व ही नहीं। द्रव्य का प्रत्यय भी एक कल्पित, मिश्रित, प्रत्यय है; द्रव्य का वास्तविक अस्तित्व कुछ नहीं। सारी सत्ता अनुभवों की सत्ता है; इनके अतिरिक्त अनुभव करने वाला कोई नहीं। चिन्तन ही चिन्तन करने वाले हैं।

## २. प्रवाहवाद का समर्थन

चेतना-अवस्थाओं के अस्तित्व को तो मानना ही पड़ता है। प्रश्न यह है कि इनके अतिरिक्त कोई स्थायी आत्मिक तत्व भी है, या नहीं। इसमें सन्देह नहीं कि ऐसे तत्व की सत्ता को सर्वसाधारण और बहुतेरे दार्शनिक भी मानते हैं। इस विश्वास का आधार क्या है?

ऐसा आधार निम्न तीन में से एक हो सकता है :—

प्रत्यक्ष,

अनुमान,

कल्पना।

सत्य प्रत्यक्ष तो अबाध प्रमाण है; अनुमान कारण-कार्य सम्बन्ध और कुदरत की अनुरूपता पर निर्भर है; सत्यासत्य के निर्णय में कल्पना का कोई महत्व नहीं।

आत्मा के द्रव्य होने, न होने की बाबत प्रत्यक्ष क्या कहता है? ह्यूम का उत्तर यह है :—

'जहां तक मैं देख सकता हूं, जब मैं निकटतम रूप में, उस वस्तु में जिसे मैं अपना स्वत्व कहता हूं, प्रविष्ट होता है तो मैं सदा किसी विशेष प्रत्यक्ष के सम्पर्क में आता हूं—जैसे गर्मी या सर्दी, प्रकाश या छाया, दुःख या सुख। मैं कभी अपने आपको, किसी प्रत्यक्ष के बिना, पकड़ नहीं सकता।'

यह अजीब 'मैं' है, जो सब कुछ करता भी है, और अपने अस्तित्व से इन्कार भी करता जाता है।

ह्यूम कहता है—'सारे विशेष प्रत्यक्ष एक दूसरे से भिन्न हैं, एक दूसरे से अलग हो सकते हैं, और अपनी अलग स्थिति में विचार का विषय बन सकते हैं। उन्हें अपनी सत्ता के आश्रय के लिए, किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं।'

अन्तिम वाक्य असन्दिग्ध परीक्षित तथ्य नहीं; एक विचार या सम्मति है। ये प्रत्यक्ष या अनुभव एक दूसरे से संयुक्त होते हैं। ह्यूम ने मनोविज्ञान में संयोग के नियम को बहुत महत्व दिया। संयोग होता तो है, परन्तु होता कैसे है? जब हम अनुभव पर दृष्टि डालते हैं, तो पता लगता है कि यह 'संयोग' अकस्मात् ही नहीं होता; यह किसी प्रयोजन या उद्देश्य की सिद्धि के लिए संकलित क्रिया का फल भी होता है। स्वप्न में ऐसी क्रिया विद्यमान नहीं होती। जागते हुए भी कभी-कभी स्वप्न की सी दशा होती है, परन्तु बहुधा 'संयोग' यत्न का फल होता है।

प्रत्यक्ष के अतिरिक्त दूसरा साधन जिससे हम सत्यासत्य का निर्णय कर सकते हैं अनुमान है। अनुमान की नींव कारण-कार्य सम्बन्ध पर है। ह्यूम कहता है कि हैं, कि यह सम्बन्ध वास्तव में कहीं विद्यमान नहीं। प्रकटन एक दूसरे के बाद विद्यमान होते हैं। जब एक प्रकटन किसी दूसरे प्रकटन के पूर्व बार-बार हमारे अनुभव में व्यक्त होता है, तो हम उसे दूसरे प्रकटन का कारण कहने लगते हैं। ह्यूम के विचार में, 'प्रकटन एक दूसरे से संयुक्त होते हैं, सम्बद्ध नहीं होते।' हमारा अनुभव सीमित है, और सम्भावना से परे, पूर्ण निश्चितता तक नहीं पहुंच सकता, प्रत्यक्ष की तरह, अनुमान भी स्थायी आत्मिक द्रव्य को प्रमाणित करने में असमर्थ है।

आत्मिक एकता का ख्याल कल्पना का परिणाम है, हमारे अनुभव इतने वेग से एक दूसरे के बाद आते हैं, कि हमें एकता का भ्रम होता है। इसी से यह भ्रम भी होता है कि आत्मा मिश्रित वस्तु नहीं। वास्तव में एकता और स्थिरता न कहीं बाहर है, न अन्दर है। बाहर के सारे पदार्थ परिवर्तनशील हैं; अन्दर की ओर देखें, तो भी परिवर्तन ही दिखायी देता है।

### ३. दो उपमाएँ

जब कोई लेखक समझता है कि वह अपनी वा पढ़ने वालों की अयोग्यता के कारण, अपने आशय को पर्याप्त रूप में स्पष्ट नहीं कर सकता, तो वह बुद्धि से हट कर कल्पना की ओर फिरता है। कल्पना के सामने अपने अभिप्राय को चित्रित करने के लिए, वह उपमा की सहायता लेता है। ह्यूम भी आत्मा की वास्तविक स्थिति को जनाने के लिए, दो उपमाओं का प्रयोग करता है। वह कहता है :—

'मन एक प्रकार की नाटच-शाला है, जहां कुछ अनुभव एक दूसरे के पीछे प्रकट

होते हैं; इधर से उधर जाते हैं, फिर ऐसा करते हैं, चल देते हैं, और असंख्य विभिन्न स्थितियों में एक दूसरे से संयुक्त होते हैं। इस व्यापार में, न एक समय में सरलता है, न विविध कालों में एकता है, चाहे हममें सरलता और एकता, दोनों की कल्पना करने की कितनी ही प्राकृत प्रवृत्ति हो।

नाटच-शाला की उपमा से हमें भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए। ये अनुभव जो एक दूसरे के पीछे आते हैं, यही मन हैं। जिस स्थान पर ये खेल खेले जाते हैं, उसका हमें अति दूर का भी कोई बोध नहीं, न ही उस सामग्री का कोई प्रत्यय है, जिससे यह नाटचशाला बनी है।'

दूसरी उपमा यह है :—

'एक विचार दूसरे विचार का पीछा करता है, और अपने पीछे आने वाले विचार को खींचता है, जो इसका स्थान ले लेता है। इस लिहाज से, मैं आत्मा के लिए अच्छी से अच्छी उपमा जो दे सकता हूं, वह गणतन्त्र राज्य की है, जिसमें विविध नागरिक एक दूसरे से, शासक और प्रजा के सम्बन्ध में, बंधे हैं, और अन्य व्यक्तियों को जन्म देते हैं, जो गणतन्त्र राज्य को, इसके अंशों में परिवर्तन होते हुए भी, स्थिर बनाये रखते हैं।

उपमा को उपमा ही की दृष्टि से देखना चाहिए, और इस पर अनुचित दबाव नहीं डालना चाहिए। इस पर भी, जब ह्यूम जैसा विचारक किसी उपमा को इतना उपयोगी कहता है, तो इसमें पर्याप्त सार होना चाहिए।

ह्यूम की दोनों उपमाओं में एक पहलू ऐसा है, जिसे ह्यूम ने कोई महत्व नहीं दिया, परन्तु हम उसकी ओर से उदासीन नहीं हो सकते। नाटक में कई नट एक साथ खेलते हैं, और वे अपने लिए ही नहीं खेलते। राज्य में भी कुछ नागरिक मरते हैं, कुछ नये पैदा होते हैं; परन्तु बहु संख्या एक समय में जीवित होती है। वृक्ष उगते और गिरते हैं, वन कायम रहता है। दूसरी उपमा में, ह्यूम ने एक वाक्य में ही अपने मत को प्रकट किया है! 'एक विचार दूसरे विचार का पीछा करता है, और एक तीसरे विचार को खींचता है, जो आकर उसका स्थान ले लेता है।' जो कुछ बीत चुका है, वह तो रहा नहीं; जो अभी आने वाला है, उसकी इस समय कोई सत्ता नहीं। वास्तविक अस्तित्व केवल वर्तमान अनुभव का ही है। ह्यूम के मत में, मन एक ऐसा नाटक है, जिसमें एक समय एक ही नट खेलता है; एक ऐसा राज्य है, जिसमें एक समय एक ही नागरिक है। यहां तो शासक और प्रजा का प्रश्न ही नहीं उठता; नागरिक का प्रत्यय ही ह्यूम के सिद्धान्त में असंगत है।

इस कठिनाई में ह्यूम के लिए एक ही सहारा रह जाता है, और वह इससे पूरी

सहायता लेता है। यह सहारा स्मृति का है। ह्यूम कहता है कि स्मृति आत्म-एकता को देखती है, और इसे बनाती भी है। मैं केवल उन अनुभवों की याद कर सकता हूं, जो मेरे अनुभव हो चुके हैं; किसी अन्य मनुष्य के अनुभव को मेरा याद करना कुछ अर्थ ही नहीं रखता। जो कुछ मेरी स्मृति में है, वह मेरे वर्तमान अनुभव के साथ मिल कर मेरा मन है। मेरी स्मृति में जो अन्तर होते हैं, उन्हें कल्पना भर देती है। स्वप्न-रहित निद्रा प्रतिदिन ऐसा अन्तर पैदा कर देती है। ह्यूम भी अन्य विचारकों की तरह, प्रत्यक्ष स्मृति और कल्पना को ज्ञान के तीन साधन स्वीकार करता है। हमें देखना है कि उसका सिद्धान्त इन तीनों का संतोषजनक समाधान है।

**४. आलोचना : कांट का मत**

कांट ने कहा कि ह्यूम ने उसे आलोचना-विहीन निद्रा से जगा दिया। इस कथन ने ह्यूम के महत्व को बहुत बढ़ा दिया, और कुछ लोग तो उसे अंग्रेज दार्शनिकों में प्रथम पद देते हैं। जो पुरुष कांट के लिए पथप्रदर्शक बनता है, उसके महत्व में क्या सन्देह हो सकता है? अपनी भूल को व्यक्त करके, ह्यूम ने कांट के लिए मार्ग साफ किया। कांट का विचार ह्यूम की सबसे अच्छी आलोचना है।

ह्यूम कहता है—'एक विचार दूसरे विचार के लिए स्थान खाली करता है, और दूसरा तीसरे के लिए खाली करता है।' ह्यूम 'विचार' शब्द का प्रयोग प्रत्येक अनुभव के लिए करता है। ये विचार या अनुभव आते कहां से हैं? ह्यूम के विवरण से ऐसा लगता है कि ये वर्तमान स्थिति में आकाश से गिरते हैं। कांट के अनुसार, पूछने का प्रश्न तो यह है कि ये अनुभव बनते कैसे हैं? इसकी ओर ह्यूम ने ध्यान नहीं दिया। ह्यूम के सिद्धान्त में, प्रत्यक्ष का स्थान मौलिक है; स्मृति और कल्पना इसी नींव पर कुछ बना सकती हैं। मैं फूल को देखता हूं, और कहता हूं कि यह सुन्दर है। फूल को देखने का अर्थ क्या है?

आंख रंग-रूप देखती है; नासिका गन्ध लेती है; त्वचा कोमलता का अनुभव करती है। प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय एक विशेष गुण का बोध प्राप्त करती है; फूल का बोध किसी अकेली इन्द्रिय का काम नहीं। बाह्य जगत प्रत्यक्ष की सामग्री देता है, प्रत्यक्ष नहीं देता। प्रत्यक्ष के व्यक्त होने के लिए, कुछ क्रियाओं की आवश्यकता होती है, जो इस सामग्री को विशेष रूप देती हैं। ये क्रियाएं एक कर्त्ता की ओर से होती हैं। इनकी नींव पर, हम कर्त्ता ज्ञाता में दो पहलू देखते हैं। कांट इन्हें 'उपलब्ध-शक्ति' और 'बुद्धि' का नाम देता है। उपलब्ध-शक्ति प्राप्त सामग्री को 'देश' और 'काल' की आकृतियों में देखती है : प्रत्येक घटना देश और काल में प्रतीत होती है। जो गुण

विविध इन्द्रियां ग्रहण करती हैं, उन्हें संयुक्त करना, एक वस्तु का बोध बनाना बुद्धि का काम है। हम कहते हैं—'फूल सुन्दर है।' इस निर्णय में हम दो प्रत्ययों (फूल और सुन्दर) को एक साथ रख कर, उनकी अनुकूलता की घोषणा करते हैं। यह इन्द्रियों या इन्द्रिय-शक्ति का काम नहीं; यह मन का काम है। इस तरह हम प्रत्यक्ष को ग्रहण नहीं करते; क्रिया करके, उपलब्ध-सामग्री को प्रत्यक्ष का रूप देते हैं। फिर वस्तुओं में गुणों का भाव या अभाव देख कर निर्णय करते हैं। इन दोनों व्यापारों में क्रिया की आवश्यकता है, और ह्यूम के सिद्धान्त में ऐसी क्रिया के लिए कोई स्थान नहीं। वहां तो घटनाएं ही घटनाएं हैं।

दर्शनशास्त्र में दो प्रश्न प्रमुख हैं—

(१) तत्व का ज्ञान

(२) ज्ञान का तत्व

प्राचीन दर्शनकार तत्व के स्वरूप को समझने का यत्न करते रहे। नवीन काल में, अनुभववादियों ने कहा कि इस खोज से पहले हमें यह जानना चाहिए कि ज्ञान क्या है? इसके साधन क्या हैं? इसकी सीमाएं कहां हैं? लाक, बर्कले और ह्यूम ने ज्ञान-मीमांसा को अपने विचार का विषय बनाया। कांट का दृष्टि-कोण भी यही था। कांट के पहिले कुछ विचारकों ने कहा था कि हमारा सारा ज्ञान अन्दर से प्राप्त होता है; अनुभववादियों ने कहा कि सारा ज्ञान बाहर से प्राप्त होता है। कांट ने कहा कि इन दोनों मतों में सत्य तो है, परन्तु अपूर्ण सत्य है। तथ्य यह है कि हमारे ज्ञान की सामग्री बाहर से आती है; और इस सामग्री को विशेष आकृति देना मन का काम है। ज्ञान के निर्माण में, बाहर और अन्दर दोनों का हाथ है। इस निर्माण में मन जो कुछ करता है, उसे भी हम दो अंशों में देख सकते हैं : इन्द्रियां बाहर से कुछ ग्रहण करती हैं; बुद्धि इस उपलब्ध सामग्री पर काम करती है। इन्द्रियां निष्क्रिय हैं; बुद्धि सक्रिय है। इन्द्रियां प्रकटनों से परे, मूल सत्ता तक नहीं पहुंच सकतीं। चूंकि सारे ज्ञान का आधार इन्द्रिय-उपलब्ध ही है, इसलिए हम सत्ता को इसके असली रूप में नहीं देख सकते; इसके प्रकटनों की बाबत ही जान सकते हैं।

कांट के सिद्धान्त में, द्वन्द्व का प्रत्यय प्रधान प्रत्यय है। जैसा ऊपर के विवरण से स्पष्ट है, यह द्वन्द्व कई रूपों में व्यक्त होता है :—

(१) अन्तिम सत्ता और प्रकटनों का भेद

(२) 'अन्दर' और 'बाहर' का भेद

(३) सक्रियता और निष्क्रियता का भेद

(४) इन्द्रिय-बोध और बुद्धि का भेद

कांट कहता है कि हम प्रकटनों से परे, और उनके आधार, स्थायी सत्ता को मानने में तो विवश हैं, परन्तु हमारा ज्ञान उसके प्रकटनों तक ही सीमित है। यह रोक वाह्य और आन्तरिक सत्ता दोनों की हालत में लागू होता है। प्रकृति की तरह, हम आत्मा के अस्तित्व से भी इन्कार नहीं कर सकते, परन्तु हमारा ज्ञान इसके प्रकटनों से परे नहीं जाता। आंख अन्य पदार्थों को देखती है, अपने आपको देख नहीं सकती; त्वचा अनेक पदार्थों को छूती है, अपने आपको छू नहीं सकती। इसी तरह, ज्ञाता अपने आप को ज्ञान का विषय नहीं बना सकता। ह्यूम ने ठीक कहा था कि वह आत्मा को अपने अनुभवों में नहीं देख सका। अनुभव करने वाला अनुभव है ही नहीं; अनुभवों के समूह में मिल कैसे सकता? ह्यूम ने उसे गलत स्थान में ढूंढना चाहा।

### ५. स्मृति और कल्पना

ह्यूम ने स्मृति का सहारा लिया है। उसने मन को अनुभवों का समूह बताया, और इन अनुभवों को नाटक खेलने वालों और राज्य के नागरिकों से उपमा दी। जैसा हम देख चुके हैं, ये दोनों उपमाएं अनुचित हैं। कोई दो अनुभव एक साथ मौजूद ही नहीं होते : एक जाता है, तब दूसरा आता है। ये अनुभव एक पंक्ति या जुलूस के रूप में दिखायी देते हैं। जैसा हम पहिले कह चुके हैं, किसी पंक्ति को अपने पंक्ति होने का ज्ञान नहीं हो सकता; ज्ञान किसी व्यक्ति को ही होता है।

स्मृति की सम्भावना ऐसे ज्ञाता के लिए है, जिसने भूत काल में कुछ जाना, और जो स्मरण-अनुभव और वर्तमान अनुभव में समानता देख सकता है। अनुभववाद के पास स्मृति के लिए कोई सन्तोषजनक समाधान नहीं। स्मृति में कुछ अन्तर भी होते हैं। ऐसा मालूम होता है कि कल रात मैंने स्वप्न-रहित निद्रा में कई घंटे गुजारे। आज प्रातः जागा, तो मैंने मानसिक कथा को वहीं से आरम्भ किया, जहां कल रात दस बजे इसे छोड़ा था। ऐसे अन्तरों को कल्पना भर देती है। कल्पना घटना नहीं, एक क्रिया है। यह अनुभवों के अंशों को उनके साथियों से अलग करती है, और फिर उन्हें जोड़ कर नयी उपज करती है। ऐसी क्रिया के लिए अनुभवों में कोई क्षमता नहीं; इसके लिए क्रिया करने वाले कर्त्ता की आवश्यकता है।

ह्यूम ने मन का जो विवरण दिया है, उसमें प्रत्यक्ष, स्मृति और कल्पना तीनों ही अविदित रहस्य रहते हैं। उसने मानसिक नाटक का जो विवरण दिया है, वह 'हैमलेट' का खेल है, जिसमें कुंवर हैमलेट मौजूद नहीं।

# २. बौद्ध मत

## १. गौतम बुद्ध

गौतम एक राजगृह में पैदा हुआ। जीवन के पहले २९ वर्ष वहीं रहा। उसकी शिक्षा एक साधारण राजकुमार की शिक्षा हुई होगी। २९ वर्ष की आयु में उसने घर को छोड़ा और साधु बना। छः वर्ष तक साधारण साधु का जीवन व्यतीत किया। आलार कलाम से योग-क्रिया सीखी, और घोर तपस्या की। इस तपस्या ने उसे बहुत कमजोर कर दिया। एक दिन जब वह इस अवस्था में जंगल में पड़ा था, गायकों की एक मण्डली पास से गुजरी। मण्डली में एक गायिका मधुर स्वर में एक गीत गाती जाती थी। गीत का तात्पर्य यह था :—

'यदि सितार के तारों को बहुत कसा जाय तो वे टूट जाते हैं; यदि पर्याप्त न कसें, तो उनमें से राग ही नहीं निकलता। सितार के तारें ठीक कसे हों, तो गान सुनने वालों के दिल भी नाचने लगते हैं। सितार के तारों को न बहुत कसो, न ढीला रहने दो : इन्हें ठीक कसो।'

गायक मण्डली तो गुजर गयी, परन्तु गौतम के जीवन में एक बड़ा परिवर्तन पैदा कर गयी। उसे ख्याल आया कि वह अपने जीवन-रूपी सितार के तारों को बहुत सख्त कस रहा है। उसे कुछ करना है; ऐसी घोर तपस्या उसे अपना काम करने के अयोग्य बना देगी। उसने तपस्या को छोड़ा, और वहां से चल दिया।

उसी रात उसे प्रतीत हुआ कि उसे सत्य का बोध हो गया है। गौतम 'बुद्ध' बन गया।

## २. बौद्धमत में दार्शनिक सम्प्रदाय

गौतम बुद्ध को या तो दार्शनिक विचारों में बहुत रुचि न थी, या वह इन्हें सर्व-साधारण के लिए लाभकारी नहीं समझता था। उसकी शिक्षा प्रायः शुद्ध आचरण के सम्बन्ध में होती थी। उसकी मृत्यु के बाद, दार्शनिक विचारों ने प्रभुत्व प्राप्त किया, और समय बीतने पर कई सम्प्रदाय खड़े हो गये। दो प्रमुख सम्प्रदाय 'हीनयान' और 'महायान' के नामों से विख्यात हैं। हीनयान (छोटा मार्ग) पुराना सिद्धान्त है, और आत्मिक उन्नति के लिए वैयक्तिक प्रयत्न पर बल देता है। महायान (लम्बा मार्ग) ध्यान पर अधिक बल देता है। यह चीन और जापान में प्रचलित है। जापान में इसका प्रमुख रूप 'जयन' (ध्यान) है। हम इन दोनों को 'कर्मयोग' और 'ध्यान-योग' का नाम दे सकते हैं।

महायान का मौलिक सिद्धान्त जीवन की एकता है। इस धारणा को स्वीकार करें, तो कुदरती तौर पर दुःख और सुख को सांझा समझना होता है। जब मैं किसी अन्य प्राणी को दुख देता हूं, तो अपने आपको ही दुःख देता हूं; जब किसी को सुखी करता हूं, तो अपने आपको ही सुखी करता हूं। महायान में करुणा ने प्रमुख पद प्राप्त कर लिया। इस करुणा ने एक विशेष रूप यह धारण किया कि भले पुरुष अपनी पवित्रता भी दूसरों को दे सकते हैं। इस विचार ने कर्म-नियम के सम्बन्ध में दोनों सम्प्रदायों के दृष्टि-कोण में भेद पैदा कर दिया। हीनयान के मतानुसार प्रत्येक को अपने कर्मों का फल भुगतना पड़ता है; महायान के अनुसार यह भी सम्भव है कि एक पुरुष बीजे और दूसरा काटे।

### ३. मौलिक सिद्धान्त

गौतम को जो बोध प्राप्त हुआ, उसका सार क्या है?

गौतम बुद्ध ने जीवन का परीक्षण किया, और देखा कि सत्ता में तीन चिह्न व्यापक रूप में मिलते हैं :—

(१) जो कुछ संसार में है, अनित्य है। प्रवाह जारी रहता है; इसके अतिरिक्त स्थिरता कहीं दिखाई नहीं देती।

(२) जीवन में दुःख का प्रभुत्व है। जन्म दुःख है; जरा दुःख है; रोग दुःख है; मृत्यु दुःख है; अप्रिय के साथ संयोग दुःख है; प्रिय का वियोग दुःख है; इष्ट पदार्थ का न मिलना दुःख है।

इस दुःख का कारण तृष्णा है। मनुष्य जीवन से चिमटा रहना चाहता है, क्योंकि वह अज्ञान में समझता है कि उसका अपना अलग और स्थायी अस्तित्व है। इस अज्ञान के दूर होने पर ही, दुखों से छूट सकते हैं।

(३) जीवन में नित्य आत्मा विद्यमान नहीं। जीवन एक व्यापक प्रवाह है। इसके भाग, अविद्या में अपने आपको स्वतन्त्र सत्ता समझ लेते हैं। बिजली का एक प्रवाह अनेक कुब्बों को प्रकाशमान बना देता है; कुब्बे अविद्या में समझने लगते हैं कि वह प्रकाश उनका अपना प्रकाश है। इस अविद्या की पूर्ण निवृत्ति यही है कि मनुष्य वैयक्तिक अस्तित्व के भ्रम को मिटा दे। यही जीवन-ज्वाला का बुझ जाना या 'निर्वाण' है।

बौद्ध मत में निषेधात्मक प्रत्ययों की प्रधानता है। स्थिरता कहीं नहीं; हर ओर अस्थिरता ही अस्थिरता है। सुख का तो पता नहीं मिलता; दुःख व्यापक है।

नित्य आत्मा का अस्तित्व नहीं; जो कुछ है अस्थिर अनात्मा है। सामाजिक

व्यवहार में, अहिंसा सर्वोपरि वृत्त है। करुणा का प्रयोग कठिन है; अहिंसा का प्रयोग सभी कर सकते हैं।

## ४. स्वत्व के स्कन्ध

आत्मा अनात्मा से अलग कहीं मिलती नहीं। कुछ विचारक कहते हैं कि हमें चेतन-अचेतन संघात को ही अन्तिम सत्ता स्वीकार करना, और इसी को अध्ययन का विषय बनाना चाहिए। बौद्धों का दृष्टि-कोण ऐसा ही है। वे स्वत्व में निम्न पांच स्कंधों (शाखाओं) को सम्मिलित करते हैं—

**(१) रूप, आकृति**

इससे शरीर अभिप्राय है। जड़ पदार्थों और पशु-पक्षियों को हम बहुधा उनके आकार से ही पहचानते हैं। मनुष्यों की हालत में भी ऐसा ही करते हैं।

**(२) वेदना**

यह सुख-दुःख की अनुभूति है। यदि इन दोनों के मध्य में कोई अवस्था है, तो वह भी वेदना में सम्मिलित है।

**(३) प्रत्यक्षीकरण**

विशेष गुणों के बोध के आधार पर, हमें पदार्थों का ज्ञान होता है। यह प्रत्यक्षीकरण है। किसी देखे हुए पदार्थ की पहचान भी इसमें सम्मिलित है।

**(४) क्रिया-प्रवृत्ति**

इसमें शारीरिक और मानसिक क्रिया की सारी प्रवृत्तियां सम्मिलित हैं।

## ५. चेतना-प्रवाह

आत्म-चेतना भी इसी में आ जाती है।

यदि हम स्वत्व को इन पांच अंशों का संघात मान लें, तो इसके अनित्य होने में कोई सन्देह नहीं रहता। शरीर प्रतिक्षण बदलता है, भाव बदलता है, ज्ञान बदलता है, क्रिया बदलती है; और चेतना-प्रवाह तो प्रवाह ही है। परन्तु प्रश्न तो यह है कि क्या हम स्वत्व को स्कन्धों का समूह समझ सकते हैं। स्कन्ध के अंशों की बाबत भी प्रश्न यही है कि उनमें नित्यता है, या नहीं।

बौद्धों का यह कथन कि कोई मिश्रित पदार्थ नित्य नहीं, ठीक है; परन्तु उनका दूसरा कथन कि स्वत्व स्कन्धों का संघात है, मान्य नहीं। जैसा कांट ने कहा—'नित्य पदार्थ में ही परिवर्तन हो सकता है।' निरे परिवर्तन को मानने का तार्किक परिणाम यह था कि कुछ विचारकों ने सत्ता को शून्य के रूप में ही देखा।

बुद्ध की शिक्षा प्रायः नैतिक होती थी। मृत्यु-शैया से उसने भिक्षुओं को अन्तिम उपदेश यह दिया—

'बन्धुओ! मैं तुम्हें याद कराता हूं कि जो कुछ बना है, वह टूटेगा। सावधान रहो।'

जब हम किसी पुरुष को सावधान रहने का आदेश देते हैं, तो हम फर्ज कर लेते हैं कि वह रहेगा। यदि उसे रहना ही नहीं, तो उसके सावधान रहने न रहने का प्रश्न ही नहीं उठता। बौद्ध-मत के अनुसार, नित्य आत्मा तो है नहीं; केवल क्षणिक चेतना-अवस्थाएं हैं। जब इनमें से किसी से कहते हैं—'सावधान रहो', तो वह उत्तर देती है—'मैं तो जा रही हूं; मेरे पीछे आने वाली अवस्था को कहना।' पीछे आने वाली अवस्था भी यही कहती है।

बौद्ध-मत में यह एक गम्भीर कठिनाई है। बुद्ध पुनर्जन्म को मानता था। उसने अपने कुछ पिछले जन्मों की बाबत ब्यौरा भी दिया। गौतम के रूप में, उसका जन्म अगणित जन्मों में अन्तिम जन्म था। इन जन्मों में स्थिर रहने वाला अंश, जो इन्हें बुद्ध के जन्म बताता था, क्या था? जहां अस्थिरता ही हो, वहां उन्नति का अर्थ क्या है? बौद्ध मत के अनुसार, कर्म-नियम निरन्तर काम करता है। हमारे कर्मों का फल चरित्र के रूप में कायम रहता है। यह चरित्र ही एक जन्म के बाद दूसरे जन्म में, दूसरे के बाद तीसरे में, आगे चलता है; इसी की उन्नति-अवनति होती है।

चरित्र एक आकृति है। आकृति किसी वस्तु की होती है। हम विशेष पुरुषों के चरित्र की बावत तो कह सकते हैं, परन्तु निरे चरित्र की बाबत, जो किसी का भी चरित्र नहीं, चिन्तन नहीं कर सकते। उन्नति एक प्रकार का परिवर्तन है; यह परिवर्तन किसी स्थायी वस्तु में ही हो सकता है। जहां स्थिरता नहीं, वहां असम्बद्ध अनेकता तो हो सकती है, परिवर्तन नहीं होता। बुद्ध ८० वर्ष तक जीवित रहा। कहते हैं कि कोई चेतना-अवस्था १०-१२ सैकंड से अधिक अवधि की नहीं होती। बुद्ध की हालत में करोड़ों अवस्थाएं आयीं और गयीं। यदि इनसे अलग, कोई स्थायी वस्तु विद्यमान न थी, तो वास्तव में करोड़ों बुद्ध हुए, जिनका निवास भी करोड़ों शरीरों में हुआ। इन करोड़ों का ज्ञान सांझा कैसे हो गया? इस कठिनाई की ओर हम पहले संकेत कर चुके हैं।

बुद्ध बार-बार कहता है: 'जो बना है, वह टूटेगा; जो कुछ मिश्रित है, वह अस्थिर है।' प्राकृत पदार्थों में, किसी मिश्रित पदार्थ को तोड़ते जायं, तो कहीं जाकर रुकना पड़ेगा, और उससे आगे तोड़ने का कोई अर्थ ही नहीं होगा। मिश्रित के प्रत्यय में ही सरल, अन्तिम अणुओं का अस्तित्व निहित है।

आत्मा के सम्बन्ध में तो तोड़-फोड़ का जिक्र करना ही निरर्थक है।

# निरपेक्ष अध्यात्मवाद

## १. निरपेक्ष अध्यात्मवाद क्या है ?

आत्मा के स्वरूप-निरूपण के सम्बन्ध में हम दो मतों का अध्ययन कर चुके हैं। एक विचार के अनुसार, जिसका सांख्य और डेकार्ट समर्थन करते हैं, आत्मा द्रव्य है, और असंख्य आत्मा विद्यमान हैं। दूसरे विचार के अनुसार जिसका समर्थन बौद्ध दार्शनिक और ह्यूम करते हैं, द्रव्य का कोई अस्तित्व नहीं; संसार में घटनाएं होती हैं, और उनके छोटे-छोटे समूहों को हम आत्मा का नाम दे देते हैं। आत्मा 'नाम' और 'रूप' से अधिक कुछ नहीं। अब हम एक ऐसे विचार की ओर आते हैं, जो ऊपर के दोनों विचारों को कुछ अंश में स्वीकार करता है, और कुछ अंश में अस्वीकार करता है। इस विचार को 'निरपेक्ष अध्यात्मवाद' कहते हैं। यह द्रव्य का अस्तित्व मानता है, परन्तु यह नहीं मानता कि अनेक तत्व द्रव्यत्व रखते हैं। इसके अनुसार एक ही द्रव्य है, और शेष जो कुछ भी है, उस द्रव्य का प्रकटन या विवर्त्त है। स्पीनोजा ने भी एक द्रव्य को ही माना था, परन्तु चिन्तन और विस्तार दोनों को, इसके गुणों की स्थिति में, समान पद दिया था। निरपेक्ष अध्यात्मवाद चेतना को प्रमुख स्थान देता है, और अकेले द्रव्य को 'सब्स्टैन्स' नहीं, 'सब्जेक्ट' के रूप में देखता है। दूसरे मत से निरपेक्ष अध्यात्मवाद इस बात में मिलता है कि संसार में अनेकता या विविधत्व विद्यमान है, परन्तु यह नहीं मानता कि जो कुछ है, वह निराश्रय है।

इस सम्बन्ध में, दो दार्शनिकों का काम विशेष विचार का पात्र है। ये हीगल और शंकराचार्य हैं। हीगल इस अकेले द्रव्य को 'एब्सोल्यूट' का नाम देता है; शंकर, भारतीय परम्परा के अनुक्रमण में, इसे 'ब्रह्म' कहता है। वर्तमान अध्याय में, हमारा विचार-विषय जीवात्मा है। इसकी स्थिति 'एब्सोल्यूट' या 'ब्रह्म' के सम्बन्ध में क्या है ? पहले निरपेक्षवाद को, जैसा इसे हीगल ने समझा था, लेंगे।

## २. अध्यात्मवाद के रूप

अध्यात्म के दो प्रमुख रूप हैं :—

(१) तात्विक अध्यात्मवाद

(२) ज्ञानात्मक अध्यात्मवाद।

तात्विक अध्यात्मवाद कहता है कि ब्रह्माण्ड में जो कुछ है, चिदात्मक है। जो कुछ अनात्मक दिखायी देता है, वह आभास-मात्र है, और आभास किसी चेतन की चेतना ही है। जैसा हम देख चुके हैं, बर्कले ने इस विचार का समर्थन किया। यह विचार प्रकृतिवाद का निषेध करता है।

ज्ञानात्मक अध्यात्मवाद प्राकृत जगत के अस्तित्व से इन्कार नहीं करता। यह केवल इतना कहता है कि वाह्य वस्तुओं को जिस रूप-रंग में हम देखते हैं, उसे निश्चित करने में हमारे मन का भी हाथ होता है। हमारा अनुभव ही अनुभव के विषय में परिवर्तन कर देता है; और हम यह नहीं कह सकते कि इस अनुभव के पूर्व इन वस्तुओं का अस्तित्व था या नहीं; और यदि था, तो उसका रूप क्या था? इसे एक दृष्टान्त से कुछ स्पष्ट करते हैं।

मैं ऐनक का प्रयोग करता हूं: निकट देखने के लिए, और दूर देखने के लिए। जब ऐनक उतारता हूं, तो वस्तुओं को उसी हालत और क्रम में देखता हूं, इस भेद के साथ कि ऐनक का प्रयोग दृष्ट पदार्थों को अधिक स्पष्ट दिखाता है। अब विशेष निरीक्षण के लिए ऐसी ऐनकें भी बनी हैं, जो पदार्थों को उलटा दिखाती हैं, या उनकी दिशा को बदल देती हैं। इनके प्रयोग से मनुष्य वृक्षों के मूल को ऊपर और तनों और शाखाओं को नीचे आता देखता है; या जो कुछ दायें था, वह उसे बायें प्रतीत होता है। अब कल्पना करें कि जो ऐनक हम लगायें हैं, वह आरम्भ से ही हमारे नाक से जुड़ी है, और उतर नहीं सकती। इस स्थिति में हम यह जान ही नहीं सकते कि ऐनक के अभाव में हम पदार्थों को किस रूप में देखते।

पीली ऐनक में से देखें, तो सारी चीजें पीली दिखायी देती हैं; नीली ऐनक में से नीली दिखायी देती हैं। कांट कहता है कि हम वाह्य पदार्थों को अनिवार्य रूप में, मानसिक ऐनक में से देखते हैं, और इसलिए, उनके वास्तविक रूप को जान नहीं सकते। मानसिक ऐनक का उतार देना हमारे लिए संभव ही नहीं; हमें इसी पर सन्तुष्ट होना पड़ता है कि पदार्थों के अनुभूत रूप को, अपने व्यवहार के लिए, उनका वास्तविक रूप समझ लें।

ज्ञानात्मक अध्यात्मवाद 'यथार्थवाद' का विरोध करता है। यथार्थवाद कहता है कि हमारा देखना न देखना पदार्थों के रूप-रंग में कोई भेद नहीं करता। जो कुछ विद्यमान है, वही हमें दिखाई देता है। हमारा प्रत्यक्ष ऐसे कैमरे का काम है, जो कभी असत्य नहीं कहता।

यहां हमारा सम्बन्ध तात्विक अध्यात्मवाद से है। निरपेक्ष अध्यात्मवाद एक ही चेतन सत्ता को मानता है, और अनेक जीवात्माओं को, जिन्हें हम 'मैं', 'तू', और 'वह' कहते हैं, उस पूर्ण सत्ता के अंशों या विवर्तों के रूप में देखता है। हीगल और शंकर के अतिरिक्त, कई अन्य विचारक भी अध्ययन के पात्र हैं, परन्तु एक आरम्भिक विवेचन में उन्हें छोड़ना पड़ता है।

## ३. हीगल का मत

नवीन अध्यात्मवाद पर हीगल का अपूर्व प्रभाव पड़ा है। कहीं-कहीं अन्य विचारकों के विचार हीगल के विचारों से भिन्न हैं, परन्तु इन भेदों के होते हुए भी नवीन तात्विक अध्यात्मवाद प्रायः हीगल का मत ही समझा जाता है।

हम ज्ञानेन्द्रियों के वारा बाह्य पदार्थों के गुणों को जानते हैं। जब कोई मनुष्य दो पदार्थों के सम्बन्ध को निर्णय के रूप में वर्णन करता है, तो हम इस निर्णय को यथार्थ स्वीकार करते हैं, या इसे असत्य समझ कर अस्वीकार करते हैं। कभी ऐसा भी होता है कि हम इसे स्वीकार या अस्वीकार करने के अयोग्य होते हैं, और अपनी राय को अनिश्चित अवस्था में रखते हैं। यह अवस्था सन्देह की अवस्था है। जब हमें कुछ करना होता है, तो हम क्रिया के विविध पहलुओं की जांच करते हैं, और इस जांच के फलस्वरूप निश्चय करते हैं। इन सब क्रियाओं के साथ अनुभूति का अंश भी मिला होता है। इन अवस्थाओं को, समष्टि रूप में, हम व्यवित की ज्ञान-धारा कहते हैं। व्यक्तियों का भेद इसलिए है कि कुछ अवस्थाएं, अपनी अन्तरंग निकटता और लगाव के कारण, एक विशेष समूह बनाती हैं, और इस प्रकार के अन्य समूहों से अलग-थलग सी रहती हैं। सुविधा के लिए कल्पना करें कि ऐसे एक करोड़ समूह हैं, और प्रत्येक समूह में १००० अवस्थाएं हैं। सारी अवस्थाओं की संख्या, जिनमें जीवित चेतनों का वर्तमान और भूत दोनों सम्मिलित होंगे, १००० करोड़ होगी। इस बड़े समग्र को हम तीन दृष्टिकोणों से देख सकते हैं—

(१) ये अवस्थाएं एक दूसरे से जुड़ी हैं, परन्तु उनमें किसी प्रकार का आन्तरिक सम्बन्ध नहीं।

यह ह्यूम का मत है।

(२) इन अवस्थाओं में सम्बन्ध है, परन्तु यह सम्बन्ध परिवार के नमूने का है। कुछ अवस्थाएं एक कुटुम्ब के सदस्यों की भांति गठित होती हैं; कुछ अन्य अवस्थाएं एक और कुटुम्ब बनाती हैं। इन कुटुम्बों को हम व्यवित का नाम देते हैं।

यह साधारण मनुष्य का मत है।

(३) जैसे साधारण मनुष्य ह्यूम से आगे जाता है, और सारी अवस्थाओं को, एक दूसरे से असम्बद्ध समझने की जगह, उन्हें अनेक व्यक्तियों की अवस्थाओं में गठित करता है, वैसे ही हीगल साधारण मनुष्य से आगे जाता है, और १००० करोड़ अवस्थाओं को एक ही समूह में गठित करता है। हीगल के विचार में, संसार में जो कुछ भी है, या हो रहा है, एक ही समूह का अंश है। व्यक्तियों का भेद आभास-मात्र है। सारी अवस्थाएं 'एब्सोल्यूट' या निरपेक्ष का भाग हैं। मनुष्यों की स्थिति अवस्थाओं की स्थिति ही है।

'एब्सोल्यूट' अपने आपको व्यक्त करता है। किसी वाह्य दबाव के कारण नहीं, क्योंकि इसके बाहर इसके अतिरिक्त तो कुछ है ही नहीं। 'अन्दर'-'बाहर' का भेद अल्पों में होता है; समग्र में नहीं हो सकता। 'एब्सोल्यूट' का विकास उसके स्वभाव में ही निहित है; वह इस विकास के बिना रह ही नहीं सकता।

इस विकास में प्रथम मंजिल जड़ प्रकृति की है। दूसरी मंजिल में प्रकृति सजीव बनती है। जड़ प्रकृति की अपेक्षा वनस्पति 'एब्सोल्यूट' को उत्तम रीति से व्यक्त करती है। तीसरी मंजिल में चेतन प्राणी प्रकट होते हैं। चेतना में ऊंचा पद बुद्धि का है। इस समय तक 'एब्सोल्यूट' का सर्वोच्च प्रकटन बुद्धि है। हीगल इसे अन्तिम प्रकटन समझता है, और इसलिए 'एब्सोल्यूट' को 'मन' के रूप में देखता है।

'एब्सोल्यूट' के दो प्रमुख चिह्न हैं :—

**१. समग्रता**

जो कुछ भी है, एब्सोल्यूट में सम्मिलित है। इसके बाहर, इससे अलग, कुछ भी नहीं।

**२. सामंजस्य**

एब्सोल्यूट में विरोध का लेश भी नहीं। शेष जो कुछ है, विवर्त्त या प्रकटन है। ब्रैडले, जिसे नवीन काल का सबसे बड़ा अंग्रेज अध्यात्मवादी समझा जाता है, कहता है कि प्रत्येक प्रकटन विरोध-ग्रस्त है; केवल निरपेक्ष ही आन्तरिक विरोध से बचा हुआ है।

विवर्त्तों या प्रकटनों में, इन दोनों अंशों के सम्बन्ध में भेद है; और, इस भेद की नींव पर, हम उत्कृष्ट और निकृष्ट , ऊंचे और नीचे का भेद करते हैं। जितना किसी व्यवित में 'समग्रता' और 'सामंजस्य' के अंश अधिक हैं, उतना ही उसका पद सृष्टि में ऊंचा है। एब्सोल्यूट का तत्व 'मन' है; इसलिए जितना किसी मनुष्य में बुद्धि का उत्थान होता है, उतना ही वह एब्सोल्यूट का अच्छा विवर्त्त है।

## ४. हीगल के मत की कठिनाइयां

साधारण मनुष्य सृष्टि, जीवात्मा और परमात्मा के अस्तित्व में विश्वास करता है, और इन्हें समझने के लिए ही तत्व-ज्ञान की सहायता चाहता है। दार्शनिकों में बहुधा सरलता की ओर अधिक झुकाव होता है। इस झुकाव के प्रभाव में पहले प्रकृति और आत्मा में से एक को अलग करने का यत्न होता है। प्रकृतिवाद आत्मा को प्राकृत परिवर्तनों का फल बताता है; अध्यात्मवाद प्रकृति को मानसिक अवस्थाओं में बदल देता है। हीगल को दो अन्तिम तत्व भी अधिक प्रतीत होते हैं, और वह एब्सोल्यूट को ही अकेली अन्तिम सत्ता कहता है।

हमें सरलता के पक्ष या विपक्ष से आरम्भ नहीं करना चाहिए। हमें तो देखना है कि मानव-अनुभव का सन्तोषजनक समाधान क्या है।

हमारा अनुभव अनेकवाद की पुष्टि करता है।

हमारा जीवन सामाजिक जीवन है। इसमें हम अनेक सम्बन्धों में अन्य पुरुषों के सम्पर्क में आते हैं। हम न उन्हें, और न अपने आपको विवर्त्तों के रूप में देख सकते हैं। एक ही चेतन की अवस्थाओं के रूप में देखना तो और भी कठिन हो जाता है। एक विद्यार्थी परीक्षा में बैठता है। दस-बारह परीक्षक उसके काम की जांच करते हैं, और अपनी जांच का परिणाम विश्वविद्यालय के दफ्तर में भेज देते हैं। विद्यार्थी पास हुआ है, या नहीं; परन्तु उसे अभी इसका ज्ञान नहीं। परीक्षकों में से प्रत्येक को एक पत्र की बाबत पता है; दूसरों की बाबत पता नहीं। दफ्तर में कई पुरुषों को, यदि वे चाहें, इसका पता लग सकता है। परीक्षकों को किसी विशेष विद्यार्थी के पास-फेल होने में कोई दिलचस्पी नहीं। स्वयं विद्यार्थी के लिए वर्ष की परीक्षा में कोई महत्व की बात है, तो उसका पास होना ही है। इन पुरुषों की मानसिक अवस्थाएं एक दूसरे से इतनी भिन्न हैं। स्थिति के दो समाधान हो सकते हैं: एक यह कि ये सब मनुष्य स्वतन्त्र सत्ता हैं; दूसरा यह कि वे सब एक ही सत्ता की अवस्थाएं हैं। पहिला समाधान अधिक सन्तोषजनक प्रतीत होता है। सारा सामाजिक व्यापार इसी धारणा पर आश्रित है।

(२) हीगल के मतानुसार, मानव जाति का इतिहास, जो विश्व के विकास का भाग है, निरपेक्ष का प्रकटन है। यह विकास अव्यक्त का व्यक्त होना है; इसमें किसी नूतनता के लिए स्थान नहीं। क्या हम मानव-इतिहास को इस रूप में देख सकते हैं? अन्य शब्दों में हमें देखना है कि जो कुछ अभी तक हो चुका है, जो अब हो रहा है, उसमें मनुष्य की स्वाधीनता का हाथ है, या नहीं? तत्व-

ज्ञान की प्रत्येक शाखा को बताना चाहिए कि स्वाधीनता की बाबत उसका मत क्या है।

कुछ लोग कहते हैं कि स्वाधीन क्रिया का अस्तित्व आभास-मात्र है। विलियम जेम्स का विचार है कि अपने आपको दृष्ट क्रिया में प्रकट करना चेतना का स्वभाव ही है। जब मुझे उठ कर बाहर जाने का ख्याल आता है, तो किसी एक के अभाव में, मैं स्वाभाविक ही ऐसा करने लगता हूं। क्रिया हो चुकने के पीछे कुछ शारीरिक संवेद होते हैं; उन्हें प्रयत्न का नाम दे देता हूं। हमारा सामान्य अनुभव इस विचार के विपरीत है। प्रयत्न का बोध क्रिया हो चुकने पर नहीं होता; उसके होते हुए होता है। बहुतेरी हालतों में, क्रिया ऐसे प्रयत्न का फल दिखाई देती है। निरपेक्ष अध्यात्मवाद के अनुसार, मनुष्य शतरंज खेलता नहीं; शतरंज का मोहरा है, जिसे एब्सोल्यूट अपने खेल में बरत रहा है।

मानव जाति का इतिहास, सौर्य-मण्डल के विकास की तरह, आरम्भ से ही निश्चित नहीं था। जिस क्रम से यह चला है, उसमें परिवर्तन होना सम्भव था। सामान्य दिशा में परिवर्तन न होता, तो भी ब्यौरा में अनेक परिवर्तन हो सकते थे। हम भूगर्भ विद्या का अध्ययन करते हैं, तो इस धारणा से आरम्भ करते हैं कि पिछले दस हजार या दस लाख वर्षों में जो कुछ हुआ है, वह नियम-बद्ध प्राकृत शक्तियों का खेल था। मानव-इतिहास के अध्ययन में, हम इस धारणा के साथ चलते हैं कि कुछ अंश में यह इतिहास मनुष्यों के स्वाधीन कर्मों का फल है। कुछ लोग मानव-इतिहास को महापुरुषों के जीवन-चरित्र के रूप में ही देखते हैं। जो लोग इतनी दूर नहीं जाते, वे भी यह नहीं मान सकते कि कपिल, कणाद, अफलातूं, अरस्तू, अशोक, नेपोलियन आदि ने मानव-इतिहास के बनाने में कुछ किया नहीं; वे शतरंज के मोहरों की तरह निष्क्रिय साधन ही थे।

(३) हमारे प्रयत्न का बड़ा भाग जीवन-निर्वाह के लिए होता है। इसका अर्थ यह है कि हम अपने आपको बदलते हुए वातावरण के अनुकूल बनाने में लगे रहते हैं। परन्तु जीवित रहने के साथ, हम जीवन-स्तर को ऊंचा करना भी चाहते हैं। इस पथ में कुछ बाधाएं आती हैं, जिन्हें दूर करना होता है। सबसे बड़ी बाधा बुराई या अभद्र है। यह अनेक रूपों में व्यक्त होती है। इनमें प्रमुख दुःख, अज्ञान और नैतिक अभद्र हैं। नैतिक अभद्र या पतन इनमें सबसे भयावनी बुराई है। यह बुराई कहां से और क्यों आ पहुंची है?

निरपेक्ष अध्यात्मवाद के अनुसार, सारी सत्ता एब्सोल्यूट की है; इसलिए बुराई भी उसी का अंश है। इस कठिनाई से बचने के लिए कुछ लोग तो कह देते हैं कि बुराई

का वास्तविक अस्तित्व है ही नहीं; यह केवल सीमित दृष्टि-कोण अपनाने का फल है। संगीत में कुछ ध्वनि ऐसी भी होती है, जो राग नहीं, निरा शब्द या शोर होती है, परन्तु वह संगीत का भाग होती है। मूल्य की जांच करते हुए, किसी भाग को नहीं, समग्र को देखना चाहिए। एक मनोहर चित्र में कुछ रेखाएं ऐसी होती हैं, जिनमें अपना कोई सौन्दर्य नहीं। इस पर भी ये सुन्दर चित्र का आवश्यक अंश होती हैं। इसी तरह, अध्यात्मवाद के अनुसार, बुराई का भी मूल्य है; यह भलाई या भद्र के मूल्य को दर्शाने और इसे बढ़ाने का साधन है। सारे विश्व को देखें, तो सब ठीक है; अल्प को देखने पर ही भलाई-बुराई का भेद प्रतीत होता है। कठिनाई यह है कि बुराई अचेतन रेखाओं और शब्दों के रूप में ही प्रकट नहीं होती। यदि देखने वाला निरपेक्ष ही हो, तो वह मेरी चीख-पुकार को समग्र के भद्र का अंश समझ सकता है; परन्तु मैं भी तो अपनी चीख-पुकार को सुनता हूं। ध्वनि की अमधुरता और रेखाओं की कुरूपता उन्हें बेचैन नहीं करती। मैं तो उनकी भाँति अपने दुःख की ओर से उदासीन नहीं हो सकता। मेरे लिए यह तसल्ली की बात नहीं कि मेरी चीख-पुकार, समग्र के अंश के रूप में, निरपेक्ष को भली लगती है।

नैतिक बुराई की ओर से हम उदासीन नहीं हो सकते। अनेकवाद का समाधान यह है कि भद्र-अभद्र का भेद वास्तविक है, और नैतिक अभद्र हमारी स्वाधीन क्रिया का फल है। हमारी क्रिया के लिए, विस्तृत सीमाएं निश्चित हैं; परन्तु, उन सीमाओं में, हम चुन सकते हैं—चाहे भद्र करें, चाहे अभद्र करें।

निरपेक्ष अध्यात्मवाद की अपेक्षा, आत्मिक अनेकवाद बुराई का अच्छा समाधान प्रस्तुत करता है।

## ५. शंकर का सिद्धान्त : आभासवाद

प्राचीन चीन का दार्शनिक चुआंग चऊ लिखता है :—

'एक बार मैं, चुआंग चऊ, सोया, और मैंने स्वप्न में अनुभव किया कि मैं एक तितली हूं, जो इधर-उधर उड़ रही है, और हरएक दृष्टिकोण से तितली है। मुझे तितली की स्थिति में ही अपने सुख का बोध था; मुझे यह ज्ञान न था कि मैं चुआंग चऊ हूं। अचानक मेरी नींद खुल गयी, और मैंने देखा कि मैं अपना पुराना स्वत्व, चुआंग चऊ, ही हूं। अब मुझे यह पता नहीं कि मैं उस समय मनुष्य था, और अपने आपको स्वप्न में तितली समझता था; या मैं अब तितली हूं, जो अपने आपको मनुष्य समझ रही है।'

चुआंग चऊ ने मायावाद का रोचक शब्दों में बयान किया है। जैसा हम देख

चुके हैं, गौडपाद ने भी इस बात पर जोर दिया था कि हमारे पास स्वप्न और जागरित में भेद करने के लिए कोई निश्चित कसौटी नहीं। हम समझते हैं कि बाह्य जगत वास्तव में अमानवी, स्थायी वस्तुओं का बना है। सम्भव है कि हम जिस अवस्था को जागरण कहते हैं, वह भी स्वप्न ही हो। आभासवाद केवल प्राकृत जगत को ही कल्पना मात्र नहीं बताता; कल्पना करने वाले जीवात्मा को भी कल्पना ही बताता है। दृष्ट और द्रष्टा दोनों ही कल्पित हैं। इतनी तसल्ली अवश्य मिलती है कि हम अच्छी संगत में हैं। हमारी तरह, ईश्वर भी आभास के अन्तर्गत ही है। अन्तिम सत्ता केवल ब्रह्म की है।

इस मत का, या इससे मिलते-जुलते मत का, प्रसार भारत में अनेक वेदान्ती विचारकों ने किया है। शंकराचार्य का नाम इनमें प्रमुख है। हम ब्यौरात्मक भेदों में नहीं पड़ेंगे, और आभासवाद के व्यापक विवरण पर सन्तोष करेंगे।

## ६. माया का प्रत्यय

हम संसार में भेदों की बड़ी मात्रा और बड़ी संख्या देखते हैं। ब्रह्म तो एकरस था; यह विभिन्नता कैसे आ गयी? आभासवाद, निरपेक्ष अद्वैत की नींव पर, इस विभिन्नता का समाधान नहीं कर सका। भासमान जगत के समाधान के लिए, इसने, ब्रह्म के साथ, 'माया' को प्रस्तुत किया है। यह माया क्या है? इसके विषय में बहुत मतभेद है। कुछ विचारक इसे ब्रह्म की शक्ति बताते हैं, जो उसमें स्वभाव से ही मौजूद है, और भासित जगत को प्रकट करती है। अन्य विचारकों के मत में माया ब्रह्म की शक्ति नहीं, अपितु उसकी शक्ति पर एक रोक है। इस रोक के अभाव में, ब्रह्म अपनी अकेली हस्ती में ही मस्त रहता। माया की शक्ति धीरे-धीरे कम हो रही है, और इसका पूर्ण रूप में समाप्त हो जाना सम्भव है। एक तीसरे विचार के अनुसार, माया ब्रह्म की शक्ति या इस शक्ति पर रोक नहीं; यह प्रकृति का ही दूसरा नाम है। यह विचार सांख्य और वेदान्त सिद्धान्तों का मेल करने का यत्न प्रतीत होता है।

इस विचार के अनुसार, संसार की रचना और इसके विकास में दो तत्वों का दखल है। सांख्य इन्हें पुरुष और प्रकृति का, और वेदान्त ब्रह्म और माया का नाम देता है। दोनों के दृष्टिकोण में प्रमुखता का भेद है। सांख्य के मत में, पुरुष की दृष्टि पड़ने पर, मूल प्रकृति का सामंजस्य भंग हो जाता है, और इसका विकास होने लगता है। वेदान्त के अनुसार, माया से उपहित होकर, ब्रह्म अपने कैवल्य को छोड़ता है, और एकता के स्थान में अनेकता प्रकट होती है। पहले विचार के अनुसार परिवर्तन प्रकृति में होता है; पुरुष की दृष्टि इस परिवर्तन का कारण होती है। दूरेस विचार

के अनुसार, प्रकृति या माया परिवर्तन की प्रेरक होती है, और परिवर्तन ब्रह्म में होता है।

## ७. ब्रह्म, ईश्वर और जीवात्मा

ऊपर कहा गया है कि माया से उपहित होकर, ब्रह्म ईश्वर और जीव दो रूपों में भासता है। इस भेद का कारण क्या है?

प्रकृति को हम परिमाण या गुणों के कोणों से देख सकते हैं। परिमाण के कोण से देखें, तो प्रकृति अगणित भागों में विभक्त है। जब ब्रह्म उपाधि में आता है, तो समस्त प्रकृति में ही नहीं, इसके अनेक भागों में भी ब्रह्म का प्रतिबिम्ब पड़ता है। समस्त प्रकृति में जो बिम्ब पड़ता है, उससे मिल कर ब्रह्म ईश्वर बनता है; किसी अंश में जो बिम्ब पड़ता है, उससे मिल कर वह जीव बनता है। बिम्ब, अपने आप में, ईश्वर या जीव नहीं हो सकता; अपने आपमें तो इसकी कोई सत्ता ही नहीं। मैं शीशे के सामने खड़ा होता हूं। शीशे के पीछे मुझे एक मनुष्य दिखाई देता है, जिसका रंग-रूप मेरा ही रंग-रूप है। परन्तु मैं जानता हूं कि वहां कोई मनुष्य विद्यमान नहीं। प्रकाश की किरणें मुझसे सम्पर्क कर के शीशे पर पड़ती हैं, और वहां से लौट कर मेरी आंख पर पड़ती हैं। इसके फलस्वरूप मुझे अपना प्रतिबिम्ब दिखाई देता है। ईश्वर और जीव की हालत में स्थिति भिन्न है: इनमें बिम्ब के साथ ब्रह्म भी विद्यमान है।

कुछ विचारक प्रकृति के परिमाण को नहीं, अपितु उसके गुणों को महत्व देते हैं। प्रकृति में तीन गुण हैं: सत्व, रजस, तमस। सत्व में विशुद्ध और मलीन का भेद किया जाता है। जब ब्रह्म विशुद्ध सत्व में अपना बिम्ब डालता है, तो ईश्वर के रूप में व्यक्त होता है; जब मलीन सत्व में डालता है, तो जीव के रूप में व्यक्त होता है। इस भेद का परिणाम ईश्वर और जीव के ज्ञान और उनकी शक्ति का भेद है। ईश्वर सर्वज्ञ और शक्तिमान है; जीव का ज्ञान और शक्ति अल्प हैं। कुछ अन्य विचारक विशुद्ध और मलीन सत्व का स्थान विक्षेप और तमस को देते हैं, और उन्हें ईश्वर और जीव के भेद के लिए उत्तरदायी बनाते हैं।

हमारा वर्तमान विषय जीवात्मा का स्वरूप है। जो लोग इसे ब्रह्म का आभास मानते हैं, वे भी एक दूसरे से सहमत नहीं। उनके विचारों को समझने के लिए, हम एक दृष्टान्त लेते हैं।

दक्षिण-पूर्व एशिया में सहस्रों छोटे-छोटे द्वीप एक दूसरे के निकट विद्यमान हैं। ये सब एक दूसरे से अलग हैं, और चारों ओर से पानी से घिरे हैं: द्वीप का अर्थ ही यह है। कल्पना करें कि अचानक समुद्र बिलकुल सूख जाता है। अब स्थिति क्या है?

हम एक पर्वत या पर्वतों की एक लड़ी देखते हैं, जिसकी कुछ ऊंची चोटियां समुद्र के तल से ऊपर उठी हुई थीं। पर्वत के जल में डूबा होने के कारण, एक ही पर्वत की चोटियां अनेक द्वीपों के रूप में दीख रही थीं। इसी तरह, एक ब्रह्म, अविद्या से उपहित होकर, अनेक जीवों के रूप में प्रकट होता है।

पर्वत की चोटियां पर्वत से संयुक्त हैं। पर्वत को छोड़ कर समुद्र की ओर देखें। समुद्र में लहर उठती है, और कुछ पानी, उछल कर, कतरों के रूप में वायु-मंडल में जा पहुंचता है। थोड़ी देर के बाद, वह फिर समुद्र में आ मिलता है।

इन दोनों मतों में, जीवात्मा ब्रह्म का अंश या भाग है, जो अविद्या के कारण ब्रह्म से पृथक प्रतीत होता है।

लहर क्या है? समुद्र की सतह समतल नहीं रहती; कुछ भाग ऊंचा हो जाता है, और गति करता दिखाई देता है। लहर समुद्र से अलग होने वाला भाग नहीं; यह उसका विवर्त्त है। कुछ विचारक जीवात्मा को ब्रह्म के प्रकटन के रूप में देखते हैं।

इन विचारों को क्रमशः 'विच्छिन्नवाद' और 'विवर्त्तवाद' कहते हैं।

इन विचारों के अनुसार, जीव में ब्रह्मत्व विद्यमान है। 'छायावाद' जीव को इस गर्व से वंचित कर देता है। इसके अनुसार, जीव ब्रह्म का बिम्बमात्र ही है। इस सम्बन्ध को सूर्य और उसके बिम्बों की उपमा से स्पष्ट किया जाता है। सूर्य एक है, परन्तु अनेक जलाशयों में उसके बिम्ब पड़ते हैं, और सब सूर्य ही भासते हैं।

किसे भासते हैं? बिम्ब आप तो कुछ जानते नहीं; सूर्य की बाबत कुछ कह नहीं सकते। हम तो यहां विचार ही जीवों के अनुभव की बाबत कर रहे हैं। ये चेतन जीव निरे बिम्ब कैसे हो सकते हैं?

## ८. हीगल का मत और आभासवाद

हीगल के निरपेक्ष अध्यात्मवाद और भारत के आभासवाद में कुछ समानता है, और कुछ असमानता भी है।

(१) हीगल का मूल तत्व एब्सोल्यूट और ब्रह्म दोनों चेतन हैं। दोनों मत प्रकृतिवाद का निषेध करते हैं।

(२) एब्सोल्यूट और ब्रह्म दोनों अपने कैवल्य को छोड़ते हैं, और विकास-क्रम को आरम्भ करते हैं। एब्सोल्यूट अपने स्वभाव से विवश हो कर ऐसा करता है; ब्रह्म माया से प्रेरित हो कर करता है।

(३) दोनों हालतों में विकास का अन्त त्रुटि और अपूर्णता का समाप्त होना है। हीगल समष्टि (मानव समाज) की पूर्णता को अन्तिम गन्तव्य बताता है; भारत

के विचारक व्यक्ति के मोक्ष को व्यक्ति का ध्येय बताते हैं। भारत के विचार में एक पुरुष के मोक्ष और उसके साथियों के बन्ध में कोई विरोध नहीं। हीगल सारे समाज की उन्नति को महत्व देता है।

(४) मानव जाति की पूर्णता के लिए, जाति का सामूहिक यत्न आवश्यक है; व्यक्ति के मोक्ष का साधन उसका अपना प्रयत्न है। हीगल कर्म पर बल देता है; भारत के आभासवादी अविद्या को बन्ध का कारण समझते हैं, और ज्ञान या विवेक को मोक्ष का साधन बताते हैं।

## पंचम भाग

# धर्म-विवेचन

# आस्तिकवाद के पक्ष में

## १. अनुभव और आस्तिकवाद

तीसरे और चौथे भागों में हमने ब्रह्मांड और आत्मा के सम्बन्ध में कुछ विचार किया है। इन दोनों के अतिरिक्त तीसरा विषय जिस पर दार्शनिक विचार करते रहे हैं, परमात्मा का अस्तित्व है।

कुछ लोग परमात्मा की सत्ता से इन्कार करते हैं। वे कहते हैं कि जिस प्रकार की सृष्टि में हम हैं, उसके कुछ चिह्न ऐसे हैं कि वह शक्तिमान और पवित्र आत्मा की रचना प्रतीत नहीं होती। वे यह भी कहते हैं कि आस्तिकवाद-प्रसार तो शान्ति का कर्ता है, परन्तु अमल में अशान्ति और कलह का कारण बना रहा है। कुछ लोग इतनी दूर नहीं जाते, क्योंकि नास्तिकवाद को भी आस्तिकवाद की भांति ऐसी धारणा की घोषणा करनी पड़ती है, जिसमें किसी प्रकार का सन्देह हो नहीं सकता। वैज्ञानिक मनोवृत्ति सिद्धान्तवादी नहीं होती, और अपनी धारणा को बदलने के लिए सदा उद्यत रहती है। फ्रान्स के प्रसिद्ध वैज्ञानिक लाप्लास ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक लिखी, तो नेपोलियन ने उससे कहा—'लाप्लास! तुमने द्यौ लोक पर पुस्तक लिखी है, और उसमें परमात्मा का जिक्र तक नहीं किया।' लाप्लास ने कहा : 'भगवन! मुझे उस प्रतिज्ञा की आवश्यकता नहीं हुई।' लाप्लास के उत्तर में विज्ञान का दृष्टिकोण प्रकट किया गया है। असंदिग्ध तथ्य तो हमारा अनुभव है। इसके समाधान के लिए, हम जो कुछ कहते हैं, वह प्रतिज्ञा का पद ही रखता है; और प्रत्येक प्रतिज्ञा को अपने से बेहतर प्रतिज्ञा के लिए स्थान खाली करने के लिए उद्यत रहना चाहिए। यह बेहतर प्रतिज्ञा भी सामयिक सत्य ही समझी जा सकती है। विज्ञान के लिए, कोई प्रतिज्ञा जितनी सरल हो, उतना ही उसका मूल्य अधिक होता है। भौतिक विज्ञान अपने काम के लिए, प्रकृति और गति (अब निरी गति) का आश्रय लेना ही पर्याप्त समझता है। लाप्लास के कथन के अन्तिम भाग का अभिप्राय भी यही था, कि नक्षत्रों के गति-क्रम को समझने के लिए, परमात्मा के प्रत्यय को विवाद में लाने की आवश्यकता नहीं।

विज्ञान का दृष्टिकोण समझ में आ सकता है। लाप्लास यह जानना चाहता था कि सूर्य, तारा आदि के घूमने की रीति क्या है। इस रीति में गति करना किसी बाह्य शक्ति के अधीन होता है, या नहीं? यह प्रश्न उसके अन्वेषण का भाग न था। जब मुझे किसी यन्त्र की क्रिया का वर्णन करने को कहा जाता है, तो मेरे लिए यह कहना असंगत है कि यन्त्र किसने बनाया और क्यों बनाया।

विज्ञान का दृष्टिकोण संकुचित है; विज्ञान ने अपनी इच्छा से इसे संकुचित किया है। तत्व-ज्ञान अपने लिए ऐसी कोई रोक नहीं लगाता। इसके लिए किसी तथ्य का मूल्य उसके अर्थ में है। हम एक से अधिक बार कह चुके हैं कि तत्व-ज्ञान मानव-अनुभव का समाधान है। अपने काम में, तत्व-ज्ञान अनुभव के किसी भाग को भी विवेचन का अपात्र नहीं समझता, और अनुभव के किसी विशेष पक्ष को नहीं, अपितु इसे, इसकी समग्रता में जानना चाहता है।

हमारे लिए प्रश्न यह है कि क्या मानव-अनुभव में कोई ऐसे चिह्न पाये जाते हैं, जो ऐसी सत्ता की ओर संकेत करते हैं, जो विश्व का आश्रय है। जैसा हमने पहले कहा है, हम बाहर की ओर देखते हैं, अन्दर की ओर देखते हैं, और ऊपर की ओर देखते हैं। क्या इन तीनों प्रकार के अनुभव में, हमें विश्वास के योग्य कोई संकेत मिलता है?

## २. प्रमाण

कुछ लोग कहते हैं—'हमें ऐसे संकेत की आवश्यकता नहीं; हमें तो अकाट्य प्रमाण चाहिए।' यह प्रमाण क्या है?

प्रमाण का प्रत्यय न्याय, गणित और भौतिक विज्ञान में प्रसिद्ध प्रत्यय है। न्याय में किसी धारणा को प्रमाणित करने का अर्थ क्या है?

जब मैं कहता हूं कि 'सारे कौए काले हैं', तो मैं यह भी कह सकता हूं कि 'कुछ काले पदार्थ कौए हैं', न्याय में, 'कुछ' पद में 'सभी' भी सम्मिलित हैं। यह सम्भव है कि विश्व में, जहां तक हमें इसका ज्ञान है, कौओं के अतिरिक्त कोई काला पदार्थ न हो। जब मैं कहता हूं कि 'सारे मनुष्य मरणधर्मा हैं' तो यह भी कह सकता हूं, कि 'कोई मनुष्य अमर नहीं।' यहां मैं यही करता हूं कि जो अर्थ वाक्य में निहित था, उसे स्पष्ट कर देता हूं। किसी नये तथ्य की बाबत नहीं कहता। तर्क में मैं इससे आगे जाता हूं। मुझे कोई कहता है :—

'भारत के सभी बालिग नागरिक हैं;

राम और गोपाल भारत के बालिगों में हैं।'

मैं निःसन्देह कह सकता हूं कि राम और गोपाल नागरिक हैं। यहां भी किसी

नये तथ्य का ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ, जो कुछ दो वाक्यों में निहित था, उसे व्यक्त किया गया है।

गणित में हम क्या करते हैं?

कुछ धारणाओं को स्वतः सिद्ध मान लेते हैं, और फिर देखते हैं कि अन्य धारणाएं उनके अनुकूल हैं, या नहीं। हम यह मान लेते हैं कि यदि क और ख दोनों घ के बराबर हैं, तो वे एक दूसरे के बराबर भी हैं। इस धारणा को हम प्रमाणित नहीं कर सकते। किसी धारणा को प्रमाणित करने का तो अर्थ ही यह है कि उसे उपर्युक्त धारणा और अन्य स्वतः सिद्ध धारणाओं के अनुकूल दिखाया जाय। गणित में सारा प्रमाण ऐसी धारणाओं पर आश्रित होता है, जो स्वयं प्रमाणित नहीं हो सकतीं।

अब विज्ञान की ओर आयें। विज्ञान का दृष्टिकोण तो अब यही है कि हम अधिक या न्यून सम्भावना तक पहुंच सकते हैं, पूर्ण सत्य हमारी पहुंच में नहीं। यहां किसी धारणा को प्रमाणित करने का अर्थ यही है कि हम इसे शेष ज्ञान के अनुकूल बता सकें। जो लोग न्याय और विज्ञान में प्रमाण के स्वरूप को नहीं समझते, परन्तु ईश्वर की सत्ता का प्रमाण मांगते हैं, उन्हें निराश होना पड़ता है। किसी धारणा को प्रमाणित करना उसे उसके अधिष्ठान पर स्थापित करना है। परमात्मा तो आप सब कुछ का अधिष्ठान है; उसके लिए अधिष्ठान कहां से लायें? हम यही कर सकते हैं कि अनुभव को तात्विक दृष्टि से देखें, और यह जानने का यत्न करें कि इसके कुछ चिह्न ईश्वर की सत्ता की ओर विश्वास के योग्य संकेत करते हैं, या नहीं।

## ३. वाह्य जगत और आस्तिकवाद

जब हम वाह्य जगत की ओर देखते हैं, तो इसमें कुछ प्रमुख चिह्न पाते हैं। वे चिह्न ये हैं :—

(१) संसार में जो कुछ दीखता है, वह मिश्रित है। हम मिश्रित पदार्थों को तोड़ते जायं, तो कहीं रुकना पड़ता है। उस स्थिति में पहुंच कर हमें अपनी सीमाओं का बोध होता है; हम यह नहीं समझते कि आगे विभाजन की संम्भावना ही नहीं रहती; सारे पदार्थ बने हुए दीखते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि जगत और उसके विविध भाग निर्माण का परिणाम हैं।

(२) संसार में निःसीम विविधत्व पाया जाता है, परन्तु इसके साथ एकता भी दिखाई देती है। संसार एक मंडल है, जिसके भाग एक व्यवस्था में स्थित हैं। प्राकृत पदार्थ एक ही 'अवकाश' में हैं। कुछ लोग तो अवकाश को प्राकृत पदार्थों की व्यवस्था

के रूप में ही देखते हैं। सारी घटनाएं काल में व्यवस्थित हैं। भूमंडल में बहुत्व या अनेकत्व के साथ एकत्व भी मिला है।

(३) संसार में जो कुछ हो रहा है, वह नियम के अधीन हो रहा है। जहां हमें नियम दिखाई नहीं देता, वहां भी हम आशा करते हैं कि ज्ञान की कमी दूर होने पर, नियम का पता लग ही जायगा।

(४) प्राकृत जगत में हम निर्जीव और सजीव का भेद देखते हैं। जीवन के विशेष चिह्न हैं। जीवन-विद्या या प्राण-विद्या ने विज्ञान की स्वतन्त्र शाखा का रूप पिछली शती में प्राप्त किया। इस अल्प काल में ही, इसने अपने लिए गौरव की स्थिति प्राप्त कर ली है।

अब देखें कि इन चारों चिह्नों में आस्तिकवाद का और कोई संकेत मिलता है, या नहीं।

(१) संसार के सभी पदार्थ निर्मित हैं। भवन ईंटों से बनता है। संसार-रूपी भवन की ईंटों को परमाणु कहते हैं। हमारे लिए यह कल्पना करना भी सुगम नहीं कि परमाणु का परिमाण कितना छोटा है। वैज्ञानिक हमें बताते हैं कि एक मनुष्य के शरीर में १५,००,००० करोड़ के करीब घटक या सयूल पाये जाते हैं; और प्रत्येक घटक में लगभग इतने ही परमाणु होते हैं। इसका अर्थ यह है कि यदि मैं अपने शरीर के घटकों को भारत के ३६ करोड़ निवासियों में बांट सकूं, तो प्रत्येक को ४१००० से अधिक घटक दे सकूंगा। कितने-कितने परमाणु बांट सकूंगा, इसका हिसाब पाठक स्वयं कर लें। परमाणु गतिशील हैं। इस गति से ही मिश्रित पदार्थ उत्पन्न होते हैं। नास्तिकवाद सृष्टि के कारण से इन्कार नहीं करता; केवल इतना कहता है कि हम इस कारण की बाबत कुछ नहीं जानते। अरस्तू ने सृष्टि के 'प्रथम कारण' को परमात्मा का नाम दिया। जैसा हम देख चुके हैं, प्राचीन परमाणुवादियों के लिए यह एक समस्या थी कि परमाणु अपनी गति में एक दूसरे से टकराते कैसे हैं। ऐसे संघर्ष के बिना पदार्थों का निर्माण हो ही नहीं सकता। इस गुत्थी को सुलझाने के लिए, उन्होंने कहा कि परमाणु गति में अपनी गति-दिशा को बदल सकते हैं। इस तरह, उन्हीं ने जगत-निर्माण में, मजबूर होकर, चेतना को प्रविष्ट कर लिया। आस्तिकवाद कहता है कि निर्माण के लिए निर्माता की, सृष्टि के लिए स्रष्टा की आवश्यकता है। इस हेतु को 'निर्माणात्मक हेतु' कहते हैं।

(२) हमें निर्मित सृष्टि में एकता और नियम दिखाई देते हैं। एकता के कुछ रूप ये हैं :—

सारे पदार्थ एक ही 'देश' में हैं; सारी घटनाएं एक ही 'काल' में होती हैं।

सारे प्राकृत पदार्थ एक दूसरे से गठित हैं। आकर्षण-नियम के अधीन, प्रत्येक परमाणु अन्य सभी परमाणुओं को खींचता है, और उनसे खींचा जाता है। सारा जगत एक ही मंडल है।

कारण-कार्य सम्बन्ध नियम की व्यापकता को बताता है। जैसा अभी कहा गया है, जहां नियम का भाव दिखाई नहीं देता, वहां भी हम इसे अपने अज्ञान का फल समझते हैं। ये एकता और नियम कैसे विद्यमान हो गये?

इसके सम्बन्ध में कई प्रतिज्ञाएं प्रस्तुत की जा सकती हैं, और प्रस्तुत की गयी हैं। 'श्वेताश्वतर उपनिषद' का आरम्भ भूमंडल की उत्पत्ति, स्थिति, और व्यवस्था की बाबत विचार से होता है। समस्या के समाधान के लिए, निम्न पक्षान्तर प्रस्तुत किये गये हैं :—

(१) काल
(२) स्वभाव
(३) नियति (अनिवार्यता)
(४) आकस्मिक घटना
(५) भूत (पंच तत्व, मूल द्रव्य)
(६) पुरुष

प्रकृतिवाद परमाणुओं से आरम्भ करता है। जिस रंग-रूप में हम सृष्टि को अब देखते हैं, वह इसे कैसे प्राप्त हो गया? एक उत्तर यह हो सकता है कि कुछ न कुछ तो बनना ही था; वर्तमान स्थिति भी एक सम्भावना थी : यह वास्तविकता में बदल गयी। यह समाधान कोई समाधान नहीं : यह तो समाधान के अभाव की स्वीकृति है।

प्रकृतिवाद सृष्टि को आकस्मिक घटना नहीं मानता। इसके अनुसार अस्तित्व के प्रत्यय में ही वस्तुओं के स्वभाव का ख्याल शामिल है। जब हम कहते हैं कि कोई पदार्थ सत्ता का भाग है, तो साथ ही यह भी कह देते हैं कि वह विशेष रूप रखती है। प्रकृति का भी स्वभाव है; यह स्वभाव ही निश्चय करता है कि वह किस रूप में व्यक्त होगी। स्वभाव-नियम को हम इन शब्दों में प्रकट कर सकते हैं—'प्रत्येक वस्तु वही है, जो वह है; इससे अलग वह अन्य कुछ नहीं।' जब हम पूछते हैं कि प्राकृत जगत वर्तमान स्थिति में क्यों है, तो यही पूछते हैं कि यह प्राकृत क्यों है। प्राकृत जगत प्राकृत ही हो सकता है; इससे अधिक हम क्या कह सकते हैं?

'स्वभाववाद' सृष्टि के समाधान के लिए, प्रकृति से परे नहीं जाता; 'नियतिवाद' इससे परे जाता है। इसके अनुसार, सृष्टि में निश्चित क्रम के अनुसार कार्य होता

है, परन्तु यह नियम एक नियन्ता का बनाया हुआ है। यह नियन्ता चेतन है और अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिए, प्रकृति को इस नियम में बांधता है। पहली हालत में, नियम आन्तरिक स्वभाव का परिणाम है; दूसरी हालत में, यह बाहरी शक्ति के शासन पर निर्भर है। दूसरा विचार आस्तिकवाद के अनुकूल है।

संसार में परिवर्तन निरन्तर हो रहा है। यह परिवर्तन निरा अवस्था का बदलना है, या किसी खास गन्तव्य की ओर गति है? यदि यह निरा बदलना है, तो हम सृष्टि को अध्ययन का विषय नहीं बना सकते। ऐसे अध्ययन का तो हम आरम्भ ही इस धारणा से करते हैं कि सृष्टि में नियम का राज्य है। सारा परिवर्तन काल में होता है। जैसा हम देख चुके हैं, विकासवाद वर्तमान स्थिति को विकास का फल बताता है। हर्बर्ट स्पेन्सर ने, इस विकास को समझने के लिए, प्रकृति से परे नहीं देखा; हीगल ने इसे 'निरपेक्ष मन' के प्रकाशन या अभिव्यंजन में देखा। श्वेताश्वतर उपनिषद की परिभाषा को बरतें, तो हम कह सकते हैं कि संसार के समाधान में :

नास्तिकवाद 'आकिस्मक घटना' का सहारा लेता है;

परमाणुवाद 'भूत' की ओर देखता है;

हर्बर्ट स्पेन्सर और हीगल दोनों 'काल' की सहायता लेते हैं; परन्तु एक भेद के साथ। हर्बर्ट स्पेन्सर कहता है कि काल की गति ने, प्रकृति के स्वभाव को सृष्टि की वर्तमान स्थिति में प्रस्तुत कर दिया है; हीगल के अनुसार 'निरपेक्ष मन' के प्रकाशन ने यह मार्ग ग्रहण किया है।

जैसा हम देख चुके हैं, कुछ विचारकों के मत में, बाहरी जगत का वस्तुगत अस्तित्व ही नहीं; इस कल्पित जगत का समाधान ढूंढ़ना समय का खोना है। प्रत्येक चेतन आत्मा अपने जगत की रचना करती है। उपनिषद में जो पहले पांच पक्षान्तर समाधान गिनाये हैं, वह अलग अलग या मिलाकर पुरुष का सन्तोषजनक समाधान नहीं हो सकते; स्वयं पुरुष एक समस्या बना ही रहता है। क्या पुरुष जगत का रचयिता हो सकता है? कौन पुरुष? जगत एक है; पुरुष तो अनेक हैं। प्रत्येक पुरुष अपने जगत की रचना करे, यह सम्भव तो है, परन्तु यह सब जगत एक दूसरे से असम्बद्ध होंगे। जैसा हम देख चुके हैं, लाइबनिज ने ऐसी स्थिति की कल्पना की थी : जितने चेतन, उतने ही भिन्न मानवी जगत। ऐसी स्थिति में, कोई व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति की बाबत जान नहीं सकता। परन्तु हम सब सांझे जगत में रहते हैं। हमारी अल्प और सीमित शक्ति जगत की रचना नहीं कर सकती।

जिस प्रश्न के साथ श्वेताश्वतर उपनिषद ने आरम्भ किया है, वह उसके उत्तर में कहता है :—

'पहले पांच पक्षान्तर न अकेले अकेले, न मिलकर सृष्टि का कारण हो सकते हैं, क्योंकि ये पुरुष के अस्तित्व का समाधान नहीं कर सकते। स्वयं पुरुष भी कारण नहीं हो सकता, क्योंकि वह भी सुख-दुख के सम्बन्ध में नियमबद्ध है। केवल परमात्मा ही कारण हो सकता है।'

इस हेतु को 'प्रयोजनात्मक हेतु' कहते हैं।

'निर्माणात्मक हेतु' में इतना ही कहा था कि सृष्टि के लिए, चाहे वह कैसी भी हो, स्रष्टा की आवश्यकता है। 'प्रयोजनात्मक हेतु' सृष्टि के गुणों या चिह्नों की ओर विशेष ध्यान देता है, और कहता है कि ये चिह्न, भ्रमविहीन रीति से, चेतन स्रष्टा की ओर संकेत करते हैं।

(३) यहां तक हमने प्रायः जड़ प्रकृति की ओर ही ध्यान दिया है। अब इसे जीवित पदार्थों की ओर फेरें; और देखें कि वे भी हमारी समस्या पर कुछ प्रकाश डालते हैं, या नहीं।

चिरकाल से चेतन और अचेतन का भेद लोगों के सामने रहा है। जीवन का स्थान कहां है? कुछ लोग इसे नीचे खींच कर प्रकृति के स्तर पर ले आते हैं, और इसे प्राकृत शक्ति या एनर्जी के रूप में देखते हैं; कुछ इसे ऊपर खींच कर, अधम चेतना समझते हैं। वर्गसां और कुछ अन्य विचारकों के काम के फलस्वरूप, अब 'प्राण-वाद' एक स्वतन्त्र सिद्धान्त बन गया है। प्राणवाद कई रूपों में व्यक्त हुआ है।

(१) वर्गसां के विचारानुसार, जगत में जो कुछ भी हो रहा है, सभी जीवन-शक्ति का खेल है। सजीव और निर्जीव का भेद जाति-भेद नहीं; केवल जीवन-शक्ति की मात्रा का भेद है। प्रकृति जीवन की अधमतम अवस्था का नाम है।

(२) वर्गसां के मत के प्रतिकूल कुछ प्रकृतिवादी कहते हैं कि जब प्राकृत एनर्जी परमाणुओं की विशेष व्यवस्था में, अपूर्व रूप से संतुलित और केन्द्रित हो जाती है, तो उसे जीवन कहते हैं। जब वह तुल्यता और पर्याप्ति कायम नहीं रहतीं, तो जीवन भी समाप्त हो जाता है। प्राकृत एनर्जी बिखरी हुई होती है; जहां कहीं यह केन्द्री-भूत हो जाती है, वहां हम जीवन देखने लगते हैं।

(३) इन दोनों मतों से भिन्न मत उन लोगों का है, जो जीवन और प्राकृत एनर्जी को दो भिन्न वस्तुएं समझते हैं। इनमें कुछ लोग तो कहते हैं कि ये दोनों समा-नान्तर शक्तियां हैं, और दोनों यन्त्रवाद के नियम के अनुसार काम करती हैं; कुछ कहते हैं कि जीवन का काम प्राकृत एनर्जी को, जो जीवित पदार्थों में इकट्ठी होती है, उपयोगी दिशा में चलाना है। प्राकृत एनर्जी किसी प्रकार का चुनाव नहीं करती; जीवित घटक अपनी खुराक का चुनाव करते दिखाई देते हैं। यह चुनाव जाहिर

करता है कि या तो प्रत्येक घटक चेतन है, या किसी चेतन शक्ति के अधीन काम करता है। जीवित पदार्थों में जो एकीकरण पाया जाता है, वह भी अद्भुत है। सारे अंग एक अंग के उपांगों की स्थिति में काम करते प्रतीत होते हैं। हमारी आंखें देखती हैं; कान सुनते हैं; मेदा खुराक को पचाता है; रक्त उसे प्रत्येक घटक को पहुंचा देता है। सारे अंगों का काम जुदा-जुदा होता है, परन्तु सारा काम शरीर के कल्याण के लिए होता है।

जड़ पदार्थों की अपेक्षा, जीवित पदार्थों की बनावट और उनकी प्रक्रिया चेतन शासन की ओर अधिक बल से संकेत करती है। जड़ जगत की रचना और स्थिति, चेतन नियन्ता के बिना, एक पहेली रहती है; जीवित पदार्थों की रचना और स्थिति उससे भी बड़ी पहेली है।

## ४. आन्तरिक जगत और आस्तिकवाद

अब बाहर से हटाकर, अपनी दृष्टि को अन्दर की ओर फेरें। जैसा पहले कह चुके हैं, जब हम अन्तरंग अनुभव की ओर देखते हैं, तो हमें दो विशेष चिह्न दिखाई देते हैं :—

(१) वहां हमें पहली बार स्वाधीनता के दर्शन होते हैं। अन्य सारे पदार्थ नियम के अधीन काम करते हैं; मनुष्य नियम के प्रत्यय के अधीन भी काम कर सकता है। अन्य पदार्थों के लिए एक से अधिक मार्ग खुले ही नहीं; मनुष्य के लिए, मार्गों में चुनाव करना सम्भव है।

(२) मनुष्य तथ्य की दुनिया से निकल कर आदर्शों की दुनिया में भी पहुंच सकता है। आदर्शों का निश्चित करना और उन्हें स्थूल आकार देने का यत्न करना स्वाधीनता का सर्वोच्च प्रयोग है।

हमारी चेतना में ज्ञान, भाव, और क्रिया प्रधान चिह्न है। इन तीनों के सम्बन्ध में, आदर्श सत्य, सौन्दर्य, और नैतिक भद्र के रूप में व्यक्त होता है। अब हमें देखना है कि क्या सत्य, सौन्दर्य और नैतिक भद्र के प्रत्यय आस्तिकवाद की बाबत कुछ बताते हैं।

सत्य की खोज करना विज्ञान का प्रमुख काम है; तत्व-ज्ञान सत् के स्वरूप को जानना चाहता है। सन्देहवादी कहता है कि ऐसा ज्ञान हमारी पहुंच से बाहर है। वह अपने इस दावे को सत्य समझता है, और इस तरह, इसका आप ही खंडन करता है। यदि हमें सत्य का बिलकुल ज्ञान नहीं, तो हमें असत्य का ख्याल ही नहीं आ सकता। हम सत्य के अस्तित्व को स्वीकार करके ही किसी प्रकार की खोज को

आरम्भ करते हैं। यह भी फर्ज करते हैं कि हम अपनी खोज में सफल हो सकते हैं। विज्ञान और दैनिक अनुभव इस ख्याल की पुष्टि करते हैं।

सत्य का ज्ञान, पूर्ण ज्ञान, विद्यमान है। कहां विद्यमान है? अल्प आत्माओं में तो विद्यमान नहीं। उनमें से कोई आत्मा सन्देह और भ्रम से सर्वथा बचा हुआ नहीं। यदि पूर्ण सत्य-ज्ञान का कहीं भाव है, तो पूर्ण आत्मा में ही हो सकता है। किसी तथ्य या सत्य को वास्तविक रूप में जानना उसे उस रूप में जानना है, जिस रूप में वह परमात्मा के ज्ञान में विद्यमान है।

कुछ दार्शनिकों ने परमात्मा के अस्तित्व को परमात्मा के प्रत्यय पर आधारित किया है। हम यहां दो ऐसे दार्शनिकों की ओर संकेत करेंगे—ऐन्सेल्म और डेकार्ट।

ऐन्सेल्म ११ वीं शती का एक पादरी था। वह विश्वास को धर्म का आधार समझता था, परन्तु यह भी चाहता था कि बुद्धि विश्वास की पुष्टि करे। उसने ईश्वर की सत्ता के पक्ष में निम्न युक्ति दी :—

'जब हम परमात्मा की बाबत चिन्तन करते हैं, तो एक ऐसी सत्ता का चिन्तन करते हैं, जिससे बढ़कर कोई सत्ता नहीं। ऐसी सत्ता की हालत की बाबत दो सम्भावनाएं हैं—एक यह कि वह हमारा मानसिक प्रत्यय ही हो; दूसरी यह कि उसका वास्तविक अस्तित्व भी हो। यह तो स्पष्ट ही है कि इन दोनों में दूसरी सत्ता बड़ी है। पहली हालत में परमात्मा केवल मानसिक प्रत्यय है। जब हम इसके साथ वास्तविक अस्तित्व भी जोड़ देते हैं, तो पहले ख्याल से आगे गुजर जाते हैं। सबसे बड़ी सत्ता में वास्तविक अस्तित्व भी सम्मिलित है; इसलिए परमात्मा की वास्तविक हस्ती है।'

डेकार्ट ने ऐन्सेलम की युक्ति को एक नये रूप में पेश किया। उसने कहा कि जो कुछ हमें, पूर्ण स्पष्ट रूप में, किसी सत्ता की सत्य और स्थायी प्रकृति में दिखाई देता है, वह वास्तव में उसमें मौजूद है। डेकार्ट ने इस नियम को ही सत्य की कसौटी स्वीकार किया था। वास्तविक सत्ता परमात्मा की सत्य और स्थायी प्रकृति में सम्मिलित है। इसलिए परमात्मा की हस्ती मान्य है।

जो युक्ति डेकार्ट के नाम के साथ अधिक विख्यात रूप में सम्बद्ध है, वह भावात्मक नहीं, अपितु मनोवैज्ञानिक है। डेकार्ट कहता है कि हमारे प्रत्ययों में 'पूर्णता' का प्रत्यय विद्यमान है। इस प्रत्यय का स्रोत हमारे मन में नहीं हो सकता, क्योंकि हम तो अपूर्ण हैं, और कोई रचयिता अपने से बड़े की रचना नहीं कर सकता। पूर्णता का प्रत्यय पूर्ण सत्ता से ही उत्पन्न हो सकता है।

गैसेंडी और कुछ अन्य आलोचकों ने कहा कि हमें पूर्ण सत्ता का प्रत्यय होता ही

नहीं। हमें अपूर्णता का बोध है। हम हर प्रकार की अपूर्णता को, जिससे हम परिचित हैं, छोड़ते जाते हैं, और इस तरह पूर्णता की कल्पना करते हैं। इस आलोचन में यह फर्ज कर लिया जाता है कि हम अपूर्णता से परिचित हैं। कैसे परिचित हैं? मौलिक प्रश्न तो यही है। पूर्णता का भला बुरा ज्ञान न हो, तो अपूर्णता का ख्याल मन में उठ ही नहीं सकता।

इस हेतु को 'भावात्मक हेतु' कहते हैं।

## ५. ह्यूम और कांट

ऊपर जो तीन हेतु ईश्वरवाद के पक्ष में दिये गये हैं, उनके प्रसिद्ध नाम—भावात्मक हेतु, निर्माणात्मक हेतु, प्रयोजनात्मक हेतु—कांट के दिये हुए हैं। इन्हें ही अब प्रमुख हेतु माना जाता है। इनमें प्रयोजनात्मक हेतु अधिक प्रसिद्ध है। डेविड ह्यूम ने इसकी आलोचना में कहा कि मनुष्यों की बनायी वस्तुओं में, हम अनेक वस्तुओं को देखने पर, प्रयोजन को देखते हैं। मेज, कुर्सी, भवन, आदि को देखने के बाद ही, हम घड़ी के देखने पर उसे प्रयोजन का आकार समझते हैं। भूमण्डल तो अपने प्रकार की एक ही वस्तु है; इसमें प्रयोजन देखने का हमें अवसर ही नहीं मिलता। ह्यूम अनुभववाद को उसकी अन्तिम सीमा तक ले गया था। उसके विचार में अनुमान हमें निश्चितता नहीं दे सकता। हम किसी घटना को २० बार विशेष स्थिति में होता देखते हैं, तो आशा करते हैं कि उसी स्थिति में, वह २१ वीं बार भी होगी। २०० बार होता देखें तो हमारा विश्वास और दृढ़ हो जाता है, परन्तु रहता तो विश्वास ही है। ह्यूम के विचार में, अब भी यह सम्भव है कि किसी त्रिकोण की दो भुजाएं मिलकर तीसरी भुजा के बराबर हों, या उससे कम हों। वह बुद्धि के निश्चय को अनुभव की मात्रा पर ही आधारित करता है।

बुद्धि इस स्थिति को स्वीकार नहीं करती। यदि कोई विकसित बुद्धि रखने वाला प्राणी अचानक किसी नक्षत्र से पृथिवी पर आ पहुंचे, तो वह पहली घड़ी को देखकर ही उसके विविध भागों के सहयोग को देखेगा, और इसमें प्रयोजन पायगा।

कांट ने भी इन हेतुओं को सन्तोषदायक नहीं समझा। भावात्मक हेतु की बाबत वह कहता है कि परमात्मा की सत्ता का प्रत्यय उसकी वास्तविक सत्ता का पर्याप्त प्रमाण नहीं। निर्माणात्मक हेतु कारण-कार्य सम्बन्ध पर आश्रित है। कांट कहता है कि हम इस सम्बन्ध को प्रकटनों में देखते हैं; हम इसे प्रकटनों की दुनिया से परे लागू नहीं कर सकते। प्रयोजनात्मक हेतु की बाबत कांट कहता है कि यह हमें निर्माण करने वाला परमात्मा दे सकता है, जिसके पास निर्माण की सामग्री पहले से मौजूद

हो; शून्य से रचना करने वाला ईश्वर नहीं दे सकता। कांट जिन लोगों के लिए लिख रहा था, वह निर्माता ईश्वर में नहीं, अपितु रचयिता ईश्वर में ही विश्वास करते थे।

कांट स्वयं नैतिक हेतु का सहारा लेता है। कांट के सिद्धान्त में द्वन्द्व का प्रत्यय प्रधान है। उसके विचार में, विशुद्ध बुद्धि स्वाधीनता, अमरत्व, और परमात्मा की बाबत निश्चित रूप से बता नहीं सकती, क्योंकि उसका कार्य-क्षेत्र प्रकटनों की दुनिया तक सीमित है। व्यवहारिक बुद्धि हमें इनकी बाबत कुछ बता सकती है।

कांट मानव अनुभव में, नैतिक चेतना को प्रथम स्थान देता है। जो विचार इस चेतना के अनुकूल है, वह मान्य है; जो इसके अनुकूल नहीं, वह अमान्य है। नैतिक चेतना परम श्रेय में दो अंशों को रखती है—नैतिक भद्र और पूर्ण सुख। नीति में कांट निष्काम कर्म पर बहुत बल देता है, परन्तु यह भी कहता है कि ऐसी व्यवस्था में जहां न्याय का शासन है, नेकी और सुख को, बुराई और दुख को, एक साथ चलना चाहिए। परन्तु स्थिति यह है कि यह मेल बहुतेरी हालतों में होता नहीं: भले पुरुषों को दुःख मिलता है, और पापी मजे में रहते हैं। हम अपनी अल्प शक्ति से यह मेल नहीं करा सकते। नैतिक बोध की मांग यह है कि इन का मेल हो। इसलिए किसी ऐसी सत्ता की आवश्यकता है, जो अपनी शक्ति से ऐसा मेल कराने में समर्थ हो। यह परमात्मा के अस्तित्व में कांट का 'नैतिक हेतु' है।

## ६. 'देव का काव्य'

कांट ने अनुभव में नैतिक चेतना को प्रथम स्थान दिया; हीगल ने निरपेक्ष के विकास में बुद्धि को सबसे ऊंचे स्तर पर देखा। इस भेद का परिणाम यह है कि जहां हीगल धर्म को तत्व-ज्ञान से मिलाता है, वहा कांट इसे नीति के साथ मिलाता है। उसके विचार में, जब कोई मनुष्य अपने कर्त्तव्यों को ईश्वरी आदेशों के रूप में देखता है तो, उसके लिए, नीति धर्म ही बन जाती है। कुछ लोग ज्ञान और कर्म की अपेक्षा, भाव को धार्मिक चेतना में अधिक महत्व देते हैं। भाव सौन्दर्य का भक्त है। इन लोगों के विचार में, जगत में सौन्दर्य का अस्तित्व ईश्वर की सत्ता को दर्शाता है। ये लोग संसार को एक यन्त्र के रूप में नहीं देखते, जिसकी बनावट यन्त्रकार की बुद्धिमत्ता का पता देती है; अपितु इसे एक ललित-कला के रूप में देखते हैं। ललित-कला में प्रमुख स्थान कविता का है। परमात्मा कवि है, और उसकी रचना कविता है। एक वेदमंत्र में कहा है :—

'देवस्य पश्यकाव्यम्; न ममार, न जीर्यति।'

'देव के काव्य को देखो; यह न कभी मरता है, न वृद्ध होता है।' मन्त्र के दूसरे भाग का अर्थ क्या है?

एक लेखक ने कहा है कि हमारी स्थिति और जीवित जगत की स्थिति में बहुत भेद है। हम आरम्भ में सौन्दर्य की मूर्ति ही होते हैं; परन्तु कुछ समय बाद, काल हमारे चेहरे पर टेढ़ी, गहरी रेखाएं खींचने लगता है, और आकर्षक चेहरे को कुरूप बना देता है। जीवित प्रकृति की बाबत यह ऐसा नहीं कर सकता। इधर सौन्दर्य चलने लगता है, उधर नया प्रकट हो जाता है। परमात्मा की यह कविता 'न कभी मरती है, न बूढ़ी होती है।' कलाकार के लिए, व्यापक सौन्दर्य ईश्वर की अपूर्व महिमा का प्रतीक है। जहां साधारण मनुष्य को सौन्दर्य दिखाई नहीं देता, वहां भी कलाकार को दिखाई देता है; जहां साधारण मनुष्य को राग सुनाई नहीं देता, वहां उसे सुनाई देता है। कवि-सम्राट शेक्सपियर ने कहा है:—

'जैसिका! बैठो! देखो, आसमान में चमकते सुवर्ण के टुकड़े कैसे घने जड़े हैं! जिन तारों को तुम देखती हो, उनमें छोटे से छोटा तारा भी अपनी गति में देव-दूत की तरह गा रहा है। परन्तु हम, इस मिट्टी के जराग्रस्त शरीर में बन्द हुए, इस राग को सुन नहीं सकते।'

## ७. उदयनाचार्य और आस्तिकवाद

भारत के नैयायिकों में, उदयनाचार्य ने अपनी विख्यात पुस्तक 'कुसुमांजली' में ईश्वर की सत्ता पर विशेष विचार किया है।

उदयन मनुष्य की स्थिति को ध्यान का विषय बनाता है। इस स्थिति में तीन बातें स्पष्ट दिखाई देती हैं:—

(१) मनुष्य को सुख और दुख मिलता है।

(२) यह सुख और दुख मनुष्य की अपनी इच्छा पर निर्भर नहीं: अपनी प्रकृति से ही सारे मनुष्य सुख की इच्छा करते हैं, और दुख से बचना चाहते हैं।

(३) सुख और दुख के सम्बन्ध में सब मनुष्यों की स्थिति एक सी नहीं।

प्रत्येक कार्य का कोई कारण होता है; हमारी सारी तर्कना इस धारणा की स्वीकृति पर आधारित होती है। मनुष्य को जो सुख-दुख अनुभूत होता है, वह भी बिना कारण के नहीं होता। यह कारण मनुष्य आप नहीं, क्योंकि वह दुख की इच्छा न करता हुआ भी, दुखी होता है। चूंकि सुख-दुख के सम्बन्ध में सब मनुष्यों की स्थिति एकसी नहीं, इसलिए सब के लिए कोई सांझा कारण नहीं हो सकता। मेरा सुख-दुख मेरे कर्मों का परिणाम है; मेरे पड़ोसी का सुख-दुख उसके कर्मों का परिणाम है। कोई

कर्म भी हो चुकने के साथ, सर्वथा समाप्त नहीं हो जाता; यह अपने पीछे अपना परिणाम छोड़ जाता है। इस परिणाम को 'अदृष्ट' कहते हैं। यह अदृष्ट सुख-दुख का कारण है। अदृष्ट और इसका फल नियम-बद्ध होता है : व्यवस्था का अर्थ ही यह है। उदयन कहता है कि अदृष्ट अचेतन होने के कारण, नैतिक व्यवस्था का संस्थापक नहीं हो सकता; यह व्यवस्था ईश्वर की स्थापना है।

अचेतन परमाणु प्राकृत जगत बनाने में असमर्थ हैं; अचेतन अदृष्ट नैतिक व्यवस्था कायम नहीं कर सकता। दोनों हालतों में, चेतन ईश्वर ही कार्यों का कारण है।

एक श्लोक में उदयन ने ईश्वर की सत्ता के पक्ष में निम्न हेतुओं का वर्णन किया है :—

(१) क्रिया
(२) आयोजन
(३) धृति
(४) श्रुति
(५) संख्या विशेष

क्रिया की बाबत ऊपर कह ही चुके हैं। घटनाओं के आपसी सम्बन्ध का सिलसिला या तार तो कहीं टूटता नहीं : क का कारण ख, ख का ग, ग का घ . . . । इन घटनाओं में कोई घटना नहीं, जो निरी कारण हो, और कार्य न हो। अरस्तू की तरह, उदयन भी 'प्रथम कारण' की आवश्यकता समझता है। यह प्रथम कारण ईश्वर है। 'अदृष्ट' भी कर्मफल का साधन है; अचेतन अदृष्ट कर्म-फल दाता नहीं होता। यहां भी कार्य का कारण ईश्वर ही है।

आयोजन से अभिप्राय सम्पादन है। जैसा हम पहले कह चुके हैं, संसार के सारे पदार्थ मिश्रित हैं, और समग्र संसार भी मिश्रित है। मिश्रित वस्तु के बनाने के लिए निर्माता की आवश्यकता होती है। सृष्टि के निर्माण के लिए परमाणुओं की सामग्री तो अनादि-काल से विद्यमान है, परन्तु यह सामग्री आप ही सृष्टि-रूपी भवन नहीं बन सकती। यह हेतु निर्माणात्मक हेतु है, जिस पर हम पहले कह चुके हैं।

जब किसी पदार्थ का निर्माण हो जाय, तो उसके सम्बन्ध में प्रश्न उठता है कि वह पदार्थ आप अपनी देखभाल कर सकेगा, या किसी चेतन को उसकी देखभाल करनी होगी। घड़ी बनानेवाला घड़ी बेचकर उस ओर से निश्चिन्त हो जाता है; परन्तु इसकी बाबत किसी न किसी को तो चिन्ता करनी ही पड़ती है। घड़ी का मालिक इसे रोज चाभी देता है, सुरक्षित रखता है। उदयन के विचार में, जगत के आरम्भिक

निर्माण के लिए ही नहीं, इसके निरन्तर अधिष्ठान के लिए भी चेतन सत्ता की आवश्यकता है। यह आवश्यकता जगत को धारण करने की है। इसे 'धृति' का नाम दिया जाता है।

चौथा हेतु 'श्रुति' की साक्षी है। भारत के दर्शनों में शब्द प्रमाण को प्रमुख प्रमाणों में स्वीकार किया गया है। शब्द को 'आप्त वचन' भी कहते हैं। आप्त वचन में परतः और स्वतः प्रमाण का भेद किया है। श्रुति (वेद) स्वतः प्रमाण है; यह अपने प्रकाश से ही चमकता है; परतः प्रमाण की मान्यता इस पर निर्भर है कि वह वेद विरुद्ध न हो। श्रुति में ईश्वर की सत्ता को स्पष्ट स्वीकार किया है।

पांचवा हेतु 'संख्या विशेष' या विशेष संख्या वा समूह है। इसका क्या अभिप्राय है?

ऊपर कहा गया है कि सांसारिक पदार्थों में आयोजन या मेल होता है। ऐसे समूहों के बनने में दो बातें हो सकती हैं––(१) समग्र में, बिना किसी क्रम के, एकाइयाँ मिलकर अनेक समूह बना दें, या (२) यह मेल किसी क्रम से हो। उदयन के ख्याल में यह संयोग या आयोजन क्रम के अनुसार होता है : दो परमाणु मिलकर एक जोड़ा बनाते हैं। ब्यौरे को एक ओर रखें, तो पता लगेगा कि, समान्य नियम की स्थिति में, यही नवीन वैज्ञानिकों का मत है। हम आक्सिजन, नाइट्रोजन, लोहा, चांदी आदि अनेक मौलिक तत्वों का जिक्र करते हैं। आक्सिजन की बनावट में परमाणु विशेष संख्या में इकट्ठे होते हैं ; नाइट्रोजन की हालत में, यह विशेष संख्या भिन्न होती है। यही हाल अन्य मौलिक तत्वों का भी है। मूल प्रकृति तो सब एक प्रकार की है; इसके परम-अणु अनेक विशेष संख्याओं में मिलते हैं, और इस भेद के कारण विविध मौलिक तत्व बनते हैं।

यह क्रम अचेतन प्रकृति की क्रिया नहीं हो सकता; इसके लिए, व्यवस्था के चेतन संस्थापक की आवश्यकता है। यहां उदयन ने प्रयोजनात्मक हेतु को एक सूक्ष्म रूप में प्रस्तुत किया है।

## ८. 'व्यवहारवाद' या 'प्रैग्मेटिस्म'

उदयन ने ज्ञान और क्रिया को अपने विवेचन का आधार बनाया है। पश्चिमी दार्शनिकों ने भी बहुधा यही किया है। नवीन सिद्धान्त में, एक सम्प्रदाय ने कठिन स्थितियों में भाव से सहायता मांगी है। जैसा हम देख चुके हैं, प्रैग्मेटिस्म के अनुसार, जहां बुद्धि कोई स्पष्ट निर्णय न कर सके, वहां हमें भाव की ओर देखना चाहिए।

ऐसी स्थिति में पूछना चाहिए कि किसी प्रतिज्ञा को मानने का व्यावहारिक फल क्या है। यदि यह फल सन्तोषदायक है, तो हमें संकल्प को भाव की पुष्टि के लिए बर्तना चाहिए। हम यहां प्रैग्मेटिस्म के सत्य या असत्य होने की बाबत विचार नहीं कर रहे हैं। हमें तो यही कहना है, कि जो लोग इस दृष्टिकोण को मान्य स्वीकार करते हैं, उनके लिए आस्तिकवाद मान्य मत है। आस्तिकवाद मानव जाति के लिए हर प्रकार की कठिनाई में अपूर्व सहारा साबित हुआ है। आस्तिक के अन्य विश्वास लड़खड़ा जायं तो भी यह विश्वास अचल रहता है कि परमात्मा उसकी रक्षा कर सकता है; आवश्यकता इतनी ही है कि वह इसका पात्र हो।

# ईश्वर का स्वरूप : कुछ प्रश्न

पिछले अध्याय में हमने देखा है कि हमारा अनुभव, बाहरी और अन्तरंग, ईश्वर की सत्ता की ओर संकेत करता है। कुछ विचारकों के मत में तो मानव अनुभव की सम्भावना ही ईश्वरी सत्ता पर आश्रित है। अब ईश्वर के स्वरूप की बाबत कुछ विचार करें। ईश्वर की सत्ता आस्तिकों और नास्तिकों में विवाद का विषय है; ईश्वर का स्वरूप स्वयं आस्तिकों में विवाद का विषय बना रहा है।

ईश्वर के गुणों की बाबत चिन्तन करते हुए, हम एक से अधिक दृष्टि-कोणों को अपना सकते हैं। एक दृष्टि-कोण तात्विक है। इसे अपनाकर हम देखना चाहते हैं कि ईश्वर के तात्विक गुण क्या हैं। एक अन्य दृष्टि-कोण से हम भूमण्डल और ईश्वर के सम्बन्ध को प्रमुख रखना चाहते हैं; और ऐसा करके, ईश्वर के स्वरूप की बाबत कुछ जानना चाहते हैं। अन्त में हम मनुष्य को सम्मुख रखकर देखना चाहते हैं कि मनुष्य के सम्बन्ध में, ईश्वरी व्यवहार ईश्वर के स्वरूप पर क्या प्रकाश डालता है।

इन तीनों प्रकार के गुणों को हम तात्विक, शासक, और नैतिक गुण कह सकते हैं।

तात्विक गुणों के सम्बन्ध में प्रमुख प्रश्न ये हैं :—

(१) ईश्वर एक है, या अनेक ईश्वर हैं ?

(२) ईश्वर चेतन है, चेतना है, या दोनों से अलग है ?

शासक-गुणों के सम्बन्ध में प्रमुख प्रश्न ये हैं :—

(१) ईश्वर की शक्ति सीमित है, या असीम है ?

(२) ईश्वर की क्रिया संसार में है; संसार से परे है; या संसार में है, और इससे परे भी है ?

नैतिक गुणों के सम्बन्ध में प्रमुख प्रश्न यह है कि ईश्वर मनुष्य को व्यवस्था में रखने के लिए निश्चित नियम पर चलता है, या अपने ऊपर ऐसी रोक नहीं लगाता ? इसी अभिप्राय को प्रकट करते हुए पूछा जाता है कि मनुष्यों के सम्बन्ध में, ईश्वर शक्ति-सम्पन्न न्यायाधीश है, या स्नेह की मूर्त्ति पिता है ? न्याय और करुणा में कौन-सा गुण उसके स्वरूप को बेहतर दर्शाता है ?

## १. एक-ईश्वरवाद और अनेक-ईश्वरवाद

अब इन प्रश्नों पर उपर्युक्त क्रम में कुछ विचार करें।

ईश्वर की बाबत चिन्तन करने में, हम तीन रीतियों में से किसी एक का प्रयोग करते हैं :—

(१) हम त्रुटियों पर दृष्टि डालते हैं और प्रत्येक त्रुटि को, जिसकी हम कल्पना कर सकते हैं, एक ओर रखकर त्रुटि-विहीन सत्ता का प्रत्यय बनाते हैं।

(२) हम त्रुटियों की ओर नहीं, अपितु उत्तमताओं की ओर ध्यान रखते हैं, और सारी उत्तमताओं का, उनकी अतीव अवस्था में, समन्वय करते हैं। जिस सत्ता में किसी श्रेष्ठता में बढ़ती होने की सम्भावना ही न रहे, वह, हमारे विचार में, ईश्वर है।

(३) हम कारण-कार्य सम्बन्ध को अपने सम्मुख रखते हैं। कारण में कार्य उत्पन्न करने की शक्ति है। हर प्रकार की शक्ति की पराकाष्ठा ईश्वर का चिह्न समझी जाती है।

'ईश्वर' के अर्थ में ही शक्ति का प्रत्यय शामिल है। अनन्त शक्ति पर किसी प्रकार की रोक नहीं हो सकती। जो कुछ जाना जा सकता है, वह ईश्वर के ज्ञान में है; जहां कहीं विद्यमान होना सम्भव है, वहां ईश्वर मौजूद है; जो कुछ ईश्वर-इच्छा में होता है, वह बिना किसी रोक के हो जाता है।

वास्तव में दूसरी और तीसरी रीतियां पहली रीति में ही सम्मिलित हैं। बड़ी से बड़ी श्रेष्ठता का अभाव, और शक्ति का सीमित होना, दोनों त्रुटियां हैं। जिस सत्ता में कोई त्रुटि न हो, वह श्रेष्ठ और शक्तिशाली तो होती ही है।

हमारे सामने इस समय प्रश्न यह है कि यदि ऐसी शक्ति का भाव है, तो वह एक है, या अनेक ?

एक-ईश्वरवाद और अनेक-ईश्वरवाद के सम्बन्ध में विवाद का एक विषय यह है कि, ऐतिहासिक लिहाज से, अनेक-ईश्वरवाद ने विकास में एक-ईश्वरवाद के लिए स्थान प्रस्तुत किया, या यह, गिरावट के रूप में, एक-ईश्वरवाद के पीछे व्यक्त हुआ। जो लोग एक-ईश्वरवाद को आस्तिकवाद का मौलिक रूप समझते हैं, वे कहते हैं कि धार्मिक-चेतना का उदय अपनी निर्बलता के बोध से होता है। मनुष्य देखता है कि वह असहाय है और किसी अज्ञात शक्ति पर आश्रित है। उसकी बुद्धि पृथक्करण के अयोग्य होती है। इसलिए वह एक ईश्वर से ही आरम्भ करता है। यह एक-ईश्वरवाद उस एक-ईश्वरवाद से भिन्न है, जो अनेक-ईश्वरवाद को असन्तोषजनक समझता है। मनुष्य

की स्थिति बदलती रहती है; कभी सुखी होता है, कभी दुःखी होता है। पहिली हालत में वह कृतज्ञता प्रकट करना चाहता है; दूसरी हालत में, विरोधी शक्ति को शान्त करना चाहता है। वह एक ईश्वर की जगह दो विरोधी शक्तियों में विश्वास करने लगता है। स्थितियों के नानात्व के कारण अदृष्ट शक्तियों की संख्या भी बढ़ती जाती है, और एक-ईश्वरवाद का स्थान अनेक-ईश्वरवाद ले लेता है।

आरम्भिक अवस्था में, मनुष्य न वाह्य जगत् को, और न अपने आपको ही भली प्रकार समझता है। जब जगत का ज्ञान बढ़ता है, तो वह इसमें एक ही नियम का राज्य देखने लगता है; विविधता के साथ एकता भी सम्मिलित हो जाती है। ऐसी स्थिति में आस्तिकवाद एक-ईश्वरवाद के रूप में ही स्वीकृत हो सकता है।

## २. ईश्वर 'पुरुष विशेष' है या नहीं?

आस्तिकों में कुछ लोग ईश्वर को चेतन द्रव्य समझते हैं; कुछ इसे सामान्य चेतना के रूप में देखते हैं। कुछ ऐसे भी हैं जो चेतना और अचेतना में भेद नहीं करते, और समग्र सत्ता को ईश्वर बताते हैं। जो लोग सामान्य चेतना को ईश्वर के रूप में देखते हैं, उनमें कुछ कहते हैं कि विश्व में नानात्व विद्यमान है; परन्तु प्रत्येक वस्तु में कुछ अंश ऐसा है, जो उसकी विलक्षणता है, और उसे अन्य पदार्थों से भिन्न बनाता है; कुछ अंश ऐसा है, जो अन्य सभी वस्तुओं में भी पाया जाता है। ईश्वर समग्र चेतना नहीं, परन्तु इसका वही भाग है, जो सामान्य है।

बहुमत ईश्वर को चेतन द्रव्य के रूप में देखता है। जीवात्मा चेतन द्रव्य है। ऐसे आत्मा या पुरुष अनेक हैं। न्याय दर्शन में ईश्वर को भी 'पुरुष विशेष' कहा गया है। पुरुषत्व का तत्व क्या है?

हमारी चेतना में ज्ञान, भाव, और क्रिया तीन पक्ष पाये जाते हैं। प्रत्येक पुरुष का अपना व्यक्तित्व है; उसकी विशेष सत्ता है। जैसा विलियम जेम्स ने कहा है, पुरुषों के सबन्ध में निरपेक्ष, अनेकवाद अन्तिम तथ्य है। किसी पुरुष को तोड़ कर, उसके तीन या चार उप-पुरुष नहीं बन सकते, न कुछ पुरुष मिलकर कोई बड़ा, मिश्रित पुरुष बना सकते हैं। सारी चेतना में किसी चेत्य, चेतना के विषय, की ओर संकेत होता है। इस अन्यत्व या दूसरेपन के बिना यह सम्बन्ध समझ में ही नहीं आता। जब हम ईश्वर को 'पुरुष विशेष' कहते हैं, तो यह स्वीकार करते हैं कि ईश्वर के अतिरिक्त अन्य सत्ता भी है। कुछ लोग कहते हैं कि ऐसा ईश्वर क्या ईश्वर है? ईश्वर को तो हर प्रकार की रोक और सीमा से ऊपर होना चाहिए। विवाद की नींव तो हमारा अपना अस्तित्व है। मैं यह कल्पना कर सकता हूं कि वाह्य जगत की कोई वास्तविक

सत्ता नहीं; यह भी कल्पना कर सकता हूं कि मैं ही अकेला आत्मा हूं, परन्तु किसी यत्न से भी यह नहीं समझ सकता कि मेरी अपनी कोई सत्ता नहीं। यह यत्न ही, जहां तक मेरी सत्ता का प्रश्न है, विवाद का निर्णय कर देता है।

जैसा हम पहले देख चुके हैं, ज्ञान में ज्ञाता और ज्ञेय का सम्पर्क होता है; क्रिया में आत्मा किसी पदार्थ पर प्रभाव डालती है; अनुभूति में वाह्य पदार्थ ज्ञाता में परिवर्तन करता है। हमारी चेतना में ये तीनों पक्ष विद्यमान हैं। क्या ये, उपयोगी भेद के साथ, परमात्मा में भी मौजूद हैं? ज्ञान और क्रिया के सम्बन्ध में तो कोई कठिनाई दिखाई नहीं देती। हमारा ज्ञान अल्प है; इसमें भ्रम भी मिल जाता है। परमात्मा से कुछ छिपा नहीं और उसका ज्ञान सर्वथा निर्भ्रान्त है। जगत का निर्माण और इसकी व्यवस्था उसकी क्रिया है। क्रिया किसी विचार को स्थूल आकार देना है; यह बल का प्रकाश भी है। उपनिषद में कहा है कि ज्ञान, बल, और क्रिया परमात्मा के स्वभाव में ही सम्मिलित हैं।

अनुभूति की बाबत प्रश्न इतना सरल नहीं। कुछ मनोवैज्ञानिक तो अनुभूति को मन की घबराहट ही समझते हैं। हम जो कुछ उद्वेग के प्रभाव में करते हैं, वह बुद्धि के नेतृत्व में तो नहीं होता। ऐसी अवस्था में कोई अन्य पदार्थ हम पर आक्रमण करता है, और हमारी स्थिति आक्रान्त की होती है। इन बातों को ध्यान में रखकर, कुछ विचारक अनुभूति को परमात्मा की चेतना में दाखिल नहीं करते। उपनिषदों में प्रायः यही दृष्टिकोण अपनाया गया है। अनुभूति में सुख-दुःख का भास मौलिक है। दुःख को हम दूर से देख नहीं सकते; इसे जानने का अर्थ इसे वास्तव में अनुभव करना है। परमात्मा की हालत में, हम ऐसे अनुभव का चिन्तन ही नहीं कर सकते।

पश्चिम में कुछ लोगों का विचार इसके विपरीत है। वे कहते हैं कि परमात्मा हमारे निकटतम है। वह हमारी सहायता उसी हालत में कर सकता है, जब उसे हमारी सारी कठिनाइयों का पूरा ज्ञान हो। उसका स्नेह उसे मजबूर करता है कि वह हमारे दुख-सुख में सम्मिलित हो। इस विचार को अवतारवाद ने जो पश्चिम के धार्मिक मन्तव्य का प्रमुख अंग है, प्रोत्साहित किया है।

## ३. ईश्वर की शक्ति सीमित है या नहीं?

यदि ईश्वर ही अकेली सत्ता नहीं, और जो सत्ता इसके अतिरिक्त है, वह भी कुछ कर सकती है, तो ईश्वर की शक्ति सीमित प्रतीत होती है। यहां भी कुछ लोगों के विचार और भावना को ठोकर लगती है। यहां वास्तव में सारा प्रश्न स्थायी स्वभाव

का है। क्या प्रकृति का ऐसा स्वभाव है? क्या मानव का ऐसा स्वभाव है? क्या स्वयं परमात्मा का ऐसा स्वभाव है? पहले प्रकृति को लें।

विचारकों में बहुमत यह है कि प्रकृति का ऐसा स्वभाव है। चाहे यह इसे परमात्मा से मिला है, चाहे इसका अपना है, यह इस स्वभाव के अनुकूल काम कर रही है। कुछ लोग कहते हैं कि प्रकृति की साधारण क्रिया तो नियमानुकूल होती है, परन्तु विशेष अवसरों पर, परमात्मा इन नियमों को स्थगित कर सकता है, और करता है। ऐसा करना क्यों आवश्यक है? इसलिए कि जो कारण काम कर रहे थे, वे उस कार्य को, जिसकी उत्पत्ति परमात्मा चाहता था, उत्पन्न नहीं कर सकते थे। उन कारणों में कोई चीज ऐसी थी, जो परमात्मा की इच्छा के सामने झुकने को तैयार न थी। यह भी तो परमात्मा की शक्ति पर रोक है। परमात्मा की शक्ति चमत्कारों में नहीं दिखाई देती; वह नियम के अबाध होने में दिखाई देती है। 'सबसे अच्छा शासन वह है, जिसके अस्तित्व की ओर किसी का ध्यान ही नहीं जाता।' वैज्ञानिक मनोवृत्ति ने चमत्कारों को भूतकाल की गाथाएं बना दिया है।

हम यह भी नहीं कह सकते कि परमात्मा का अपना कोई स्वभाव नहीं, और वह जो कुछ करता है, अनियमित करता है। चेतन सत्ता का व्यक्तित्व स्थायी चरित्र में ही है। जो लोग परमात्मा को सर्वशक्तिमान कहते हैं, वे भी यह नहीं मानते कि परमात्मा अन्याय कर सकता है; धोखा दे सकता है; अपने जैसे या अपने से भी बड़े परमात्मा को बना सकता है।

परमात्मा को शक्ति की सीमा का सबसे स्पष्ट उदाहरण मनुष्यों की अपनी क्रिया है। परमात्मा ने मुझे क्रिया करने की शक्ति दी है; उसने मुझे ऐसे वातावरण में रखा है, जिसमें क्रिया हो सकती है। परन्तु सीमाओं के अन्दर, जो कुछ मैं करता हूं, वह मेरा काम है; परमात्मा का काम नहीं। वर्तमान लेख मैं लिख रहा हूं, परमात्मा नहीं लिख रहा। जो कुछ संसार में हो रहा है, वह सब परमात्मा की क्रिया नहीं। इन अर्थों में परमात्मा की शक्ति सीमित है। जब हम परमात्मा को सर्वशक्तिमान कहते हैं, तो हमारा अभिप्राय यह होता है कि परमात्मा को जो कुछ करना होता है, वह उसे बिना किसी रोक के, बिना किसी बाहरी सहायता के, कर सकता है।

## ४. अन्तरात्मा या पर-ब्रह्म ?

हम एक से अधिक बार घटना और क्रिया के भेद की ओर संकेत कर चुके हैं। घटना में प्रकृति के किसी अंश का स्थान-परिवर्तन होता है, और इसके साथ शक्ति या एनर्जी का नया विभाजन हो जाता है। क्रिया में यह होता है, परन्तु इसलिए कि कोई

चेतन कर्त्ता अपनी इच्छा को दृष्ट रूप देना चाहता है। यह सम्भव है कि जब वृक्ष की टहनियां हिलती हैं, तो वृक्ष भी झुकना चाहता हो; परन्तु ऐसी स्थिति का कोई चिह्न दिखाई नहीं देता, और हम वृक्ष को इच्छा-विहीन अचेतन प्राणी ही समझते हैं। मनुष्यों की बाबत हम ऐसा नहीं समझते। अपनी बाबत तो पूर्ण विश्वास है कि मैं यह पंक्तियां लिखने में अपने संकल्प को स्थूल रूप दे रहा हूं।

जो लोग घटना और क्रिया में भेद नहीं देखते, उनके लिए दो मार्ग खुले हैं : या तो वे क्रिया को घटना के रूप में देखें; या घटना को क्रिया के रूप में देखें। प्रकृतिवादी पहिले मार्ग को अपनाते हैं; धार्मिक-दर्शन दूसरे मार्ग को अपनाता है। दूसरे विचार के अनुसार, जो शक्ति अचेतन जगत में काम कर रही है, वह ब्रह्म की शक्ति है। यह उपनिषदों का दृष्टि-कोण है। इसे एक अलंकार में प्रकट किया है।

केन उपनिषद के तीसरे खण्ड में हम पढ़ते हैं :—

"ब्रह्म ने देवताओं के लिए विजय प्राप्त की। ब्रह्म की इस विजय में देवताओं ने गौरव प्राप्त किया।

उन्हें ख्याल आया—'यह विजय हमारी ही है; यह विजय हमारी ही है।' ब्रह्म ने उनके इस भाव को जाना, और वह उनके सामने प्रकट हुआ। देवता पहचान न सके कि वह यक्ष कौन है।

उन्होंने अग्नि से कहा—'जाओ, पता लगाओ कि यह यक्ष कौन है।' अग्नि ने कहा—'बहुत अच्छा।'

अग्नि यक्ष के पास पहुंचा। यक्ष ने पूछा—'तू कौन है?'

उसने उत्तर दिया—'मैं अग्नि हूं; मैं 'जातवेदा' (प्रकाश का स्रोत) हूं।'

यक्ष ने पूछा—'तुम कर क्या सकते हो?' अग्नि ने कहा—'पृथिवी में जो कुछ है, उस सभी को जला सकता हूं।'

यक्ष ने अग्नि के सामने एक तिनका रख दिया, और कहा—'इसे जलाओ।' अग्नि तिनके के निकट गया, परन्तु अपने सारे यत्न से उसे जला न सका। अग्नि वहां से लौट गया, और जाकर देवताओं से कहा—'मैं जान नहीं सका कि यह यक्ष कौन है।'

तब देवताओं ने वायु से कहा—'वायो! तुम जाओ, और पता लगाओ कि यह यक्ष कौन है।' वायु ने कहा—'बहुत अच्छा।'

वायु यक्ष के पास पहुंचा। यक्ष ने कहा—'तू कौन है?' वायु ने कहा—'मैं वायु हूं; मैं 'मातरिश्व' (अन्तरिक्ष में विचरने वाला) हूं।'

यक्ष ने पूछा—'तुम कर क्या सकते हो?' उसने कहा—'पृथिवी पर जो कुछ भी है, मैं उसे उड़ा ले जाने की सामर्थ्य रखता हूं।'

यक्ष ने उसके सामने एक तिनका रख दिया, और कहा—'इसे उड़ा दो।' वायु अपने सारे वेग से उसे उड़ा न सका। वह लौट गया, और देवताओं से कहा—'मैं यह नहीं जान सका कि यह यक्ष कौन है।'

तब देवताओं ने इन्द्र से कहा—'मेघनाथ! तुम जाओ, और मालूम करो कि यह यक्ष कौन है।' इन्द्र ने कहा—'बहुत अच्छा।' और वह यक्ष के पास गया। यक्ष इन्द्र के सामने से लोप हो गया।

इन्द्र ने उसी आकाश में एक अत्यन्त शोभामयी स्त्री को देखा। यह हिमालय की पुत्री, उमा (ब्रह्म विद्या) थी। इन्द्र ने उमा से पूछा—'यह यक्ष कौन है?'

उमा ने कहा—'यह ब्रह्म है। तुम्हें जो महिमा प्राप्त हुई है, वह ब्रह्म की विजय के कारण ही मिली है।' इन्द्र को पता लगा कि वह यक्ष ब्रह्म था।

इस कथा का अर्थ यह है कि संसार में जो शक्ति भी विद्यमान है, वह वास्तव में ब्रह्म की शक्ति ही है। इसी ख्याल को जाहिर करने के लिए, निम्न श्लोक एक से अधिक उपनिषदों में आता है :—

'वहां (ब्रह्म लोक में) न सूर्य चमकता है, न चन्द्र, न तारे ; न बिजली चमकती है, यह अग्नि तो क्या चमक सकती है? वास्तव में ब्रह्म के प्रकाशित होने से ही यह जगत प्रकाशित होता है; उसके चमकने से ही यह सब चमक रहा है।'

यह भी कहा है :—

'वह एक देव सब भूतों में छिपा हुआ है; वह सर्वव्यापक है, और सब भूतों का अन्तरात्मा है। वह सारे कर्मों का अध्यक्ष है, सारे भूतों में स्थित है, साक्षी है, चेता है, केवल है और निर्गुण है।'

यह ब्रह्म का एक रूप है : वह निकट से निकट है; प्रत्येक वस्तु में रमा हुआ है। प्राकृत जगत में जो कुछ हो रहा है, उसकी शक्ति से हो रहा है; मनुष्यों के कर्मों का अधिष्ठाता है। इसका अर्थ यह है कि मनुष्य कुछ कर सकते हैं, परन्तु जो कुछ करते हैं, वह ईश्वरी व्यवस्था में ही करते हैं। इसके अतिरिक्त, ब्रह्म का एक और रूप भी है : वह पर-ब्रह्म है। विश्व की सत्ता उसे सीमित नहीं करती : वह इससे परे भी है। वह जगत का अन्तरात्मा है, कर्मों का अधिष्ठाता है; परन्तु यह तो सृष्टि के सम्बन्ध में उसका रूप है। स्रष्टा होना उसका एक पक्ष है। वह प्रकटनों के जगत से ऊपर भी है। जहां वह निकट से निकट है, वहां दूर से दूर भी है।

## ५. परमात्मा के नैतिक गुण

'मनुष्य के लिए, विवेचन का प्रमुख विषय स्वयं मनुष्य ही है।' हम मानव अनुभव के समाधान पर विचार कर रहे हैं। मनुष्य की चेतना में, जैसा पहिले कह चुके हैं, कर्तव्य का प्रत्यय प्रमुख प्रत्यय है। कर्तव्य-पालन के लिए आवश्यक है कि कार्यों में चुनाव करने की क्षमता हो। कांट के शब्दों में, 'तुम्हें करना चाहिए; इसलिए, तुम कर सकते हो।' अन्य पदार्थ नियम के अधीन चलते हैं; मनुष्य आदर्श का चिन्तन करता है; और चाहे तो उसके अनुसार कर सकता है, चाहे तो उसके प्रतिकूल कर सकता है। यहां तक उसकी स्वाधीनता जाती है; इससे आगे नहीं जाती। उसे अपने कर्मों का फल भोगना पड़ता है। श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा—'कर्मों में तुम्हारा अधिकार है; कर्म-फल में तुम्हारा अधिकार नहीं।'

यहां कुछ लोग कहते हैं कि कर्म करने में भी हमारा अधिकार नहीं। एक दल कहता है कि हम प्राकृत नियम से बंधे हुए, नियत मार्ग से इधर-उधर जा ही नहीं सकते; दूसरा दल कहता है कि जो कुछ हमें करना है, वह तो आरम्भ में ही विधाता ने हमारा भाग्य बना दिया है। एक तीसरा विचार इस कठिनाई को ईश्वर की शक्ति से नहीं, उसके ज्ञान से सम्बद्ध करता है। ईश्वर सर्वज्ञ है; सब कुछ जानता है। 'सब कुछ' में भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालों में होने वाली घटनाएं और क्रियाएं आ जाती हैं। यदि परमात्मा जानता है कि मैं परसों क्या करूंगा, तो मेरी क्रिया निश्चित हो चुकी है; मेरे लिए एक मार्ग ही खुला है। ईश्वर का भविष्य को जानना मेरी स्वाधीनता को समाप्त कर देता है।

इस कठिनाई से बचने के लिए क्या कह सकते हैं? एक समाधान तो यह है कि किसी घटना की बाबत जानना उसे निश्चित करने से भिन्न है। मैं जानता हूं कि अगला सूर्य-ग्रहण कब लगेगा, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि सूर्य, पृथिवी और चन्द्र का एक विशेष स्थिति में होना मेरे संकल्प का परिणाम होगा। ईश्वर सर्वज्ञ होने से यह जान सकता है कि परसों मेरी स्वाधीन क्रिया क्या होगी।

एक और विचार के अनुसार, जानने का अर्थ वास्तविकता का ज्ञान है। मुझे जो कुछ परसों करना है, वह तो अभी वास्तविकता का भाग ही नहीं; उसे जानने न जानने का प्रश्न ही नहीं उठता। मुझे या किसी और मनुष्य को तो यह भी पता नहीं कि परसों मैं जीवित भी हूंगा, या नहीं।

यह दोनों विचार काल की स्थिति को साधारण रूप में स्वीकार कर लेते हैं। एक तीसरा विचार काल की स्थिति को विवेचन का विषय बनाता है। भूत, वर्तमान

और भविष्य का भेद हम अपनी अल्पज्ञता के कारण करते हैं। देश के सम्बन्ध में भी ऐसा ही भेद करते हैं।

हमारे लिए यहां और वहां, अब और तब, का भेद है, क्योंकि हम, एक साथ, हर कहीं और हर समय में नहीं हो सकते। ईश्वर के लिए ऐसी रोक नहीं; उसके लिए सभी स्थान 'यहां' हैं, और सारा काल 'अब' है। ईश्वर के सम्बन्ध में यह प्रश्न ही निरर्थक है कि वह भविष्य की बाबत जानता है, या नहीं। उसके लिए भविष्य का अस्तित्व ही नहीं।

ईश्वर का सर्वज्ञ होना मनुष्य की स्वाधीनता के प्रतिकूल नहीं। ईश्वर कर्मों का अध्यक्ष है; वह मर्यादा स्थापित करता है, और जो कोई मर्यादा को भंग करता है, उसे उचित फल देता है। इसे ध्यान में रखते हुए, हम उसे राजा और न्यायाधीश का नाम देते हैं। न्यायाधीश दण्ड भी देता है, और हम दण्ड को पसन्द नहीं करते। हम कहते हैं, 'परमात्मा हमारा पिता है; वह स्नेह में हमें दण्ड नहीं देगा; उसकी करुणा उसके न्याय पर विजय पायेगी।'

नैतिक जीवन के सम्बन्ध में, आस्तिकवाद के लिए सबसे जटिल प्रश्न यही है कि ईश्वर पापियों के लिए न्यायकारी राजा है, या करुणामय पिता है। कुछ लोग कहते हैं कि प्राकृत नियम की तरह, नैतिक नियम भी अबाध है; इन अर्थों में कि यदि उसका उल्लंघन किया जाय, तो वह उल्लंघन करने वाले का पीछा करता है। कुछ अन्य लोग कहते हैं कि ईश्वर कर्म-नियम के लागू करने में बहुत सख्ती से काम नहीं लेता।

जो लोग न्याय की मांग से करुणा की मांग को अधिक महत्व देते हैं, वे कहते हैं कि मनुष्य अपनी निर्बलता के कारण न्याय की मांग को पूरा नहीं कर सकता। जो नियम उसके लिए निश्चित किया गया है, वह उसकी पहुंच से बहुत ऊंचा है; और परमात्मा की करुणा के बिना उसके लिए बचाव का कोई मार्ग नहीं। इस धारणा में यह ख्याल भी पाया जाता है कि जहां गिरावट इतनी सुगम है, वहां दण्ड की मात्रा बहुत बड़ी है। इन कठिनाइयों की बाबत हम पूछते हैं कि जिस व्यवस्था में ये कठिनाइयां इतने भयावने रूप में विद्यमान हैं, वह व्यवस्था स्थापित किसने की है? निर्जीव प्रकृति तो नैतिक व्यवस्था का स्रोत नहीं हो सकती; स्वयं मनुष्य भी, जो इसके नीचे इतना चीखता है, इसका निर्माता नहीं हो सकता। यह व्यवस्था परमात्मा की स्थापना है; उसे तो मालूम होना चाहिए कि उसकी स्थापित की हुई व्यवस्था व्यावहारिक है, या नहीं। जब हम इस व्यवस्था की बाबत निर्णय देते हैं, तो हमें देखना चाहिए कि हम बुद्धि की आवाज सुन रहे हैं या भाव का शोर सुनते हैं।

न्याय में हम दृष्ट क्रिया की ओर संकेत करते हैं; करुणा या दया में मनोवृत्ति

की ओर संकेत करते हैं। जब एक पिता पुत्र को पीटता है, क्योंकि उसने परिवारिक मर्यादा को भंग किया है, तो हम यह कैसे जानते हैं कि उसकी क्रिया की तह में करुणा की भावना नहीं? अधिक सम्भावना तो यही है कि वह पुत्र को करुणा के प्रभाव में पीट रहा है। इसी तरह, जो पीड़ा हमें अपने कुकर्मों के दण्ड के रूप में मिलती है, वह एक साथ परमात्मा के न्याय और उसकी दया दोनों को प्रकट करती है।

जर्मनी के दार्शनिक हीगल ने तो कहा है कि जब कोई मनुष्य कुकर्म करता है, तो मानव-स्तर से नीचे आ गिरता है। उसका हित इसी में है कि वह फिर अपने स्तर पर पहुंच सके। दण्ड इसका साधन है; यह उसका अधिकार है, जिससे उसे वंचित नहीं किया जा सकता। दण्ड मिलने पर ही, उसकी स्वाधीनता और नैतिक व्यक्तित्व की स्पष्ट घोषणा होती है। जो व्यवस्था स्थापित की गयी है, उसका अनादर होना नहीं चाहिए। प्राकृत नियम और नैतिक नियम, सत्य और ऋत, दोनों पर भूमण्डल आश्रित है।

# ब्रह्मसर्ववाद और ईश्वरवाद

## १. आस्तिकवाद के विविध रूप

आस्तिकवाद ने कई रूप धारण किये हैं।

एक रूप एकवाद है। यह सत्ता में किसी प्रकार के तात्विक भेद को स्वीकार नहीं करता। एक और रूप ईश्वरवाद है, इसके अनुसार, सत्ता में ईश्वर का पद सर्वोपरि है, परन्तु हम यह नहीं कह सकते कि इसके अतिरिक्त जो कुछ है, वह भास-मात्र है।

एकवाद भी कई रूपों में प्रकट हुआ है। प्राचीन काल में स्टोइक सम्प्रदाय ने अकेली सत्ता को प्रकृति में देखा। प्रकृति का प्रमुख स्पर्द्धी मन है। स्टोइक विचार ने मन को प्राकृत गति का एक कल ही बताया। डेकार्ट ने चेतन और अचेतन के भेद को मौलिक भेद बयान किया। स्पीनोजा ने स्टोइक विचार और डेकार्ट के मत का समन्वय करने का यत्न किया। उसने एकवाद को तो माना, परन्तु प्रकृति के मुकाबले में चेतना को गौण पद नहीं दिया। उसने डेकार्ट के द्वैत को भी स्वीकार किया, परन्तु यह द्रव्यों का द्वैत नहीं, अपितु गुणों का द्वैत था। वास्तव सत्ता एक ही है; चेतना और विस्तार उसके दो गुण हैं, जो अनेक ज्ञाताओं और प्राकृत पदार्थों के रूप में व्यक्त होते हैं। स्पीनोजा ने इस सत्ता को 'सब्स्टैन्स' का नाम दिया।

स्पीनोजा से पीछे आने वाले विचारकों में, किसी ने 'सब्स्टैन्स' में विस्तार को, और किसी ने चेतना को प्रमुख लक्षण देखा। इसके फलस्वरूप, किसी ने स्पीनोजा को नास्तिक समझा; किसी ने कहा कि वह ब्रह्माण्ड को ब्रह्म में विलीन कर देता है। स्पीनोजा ने स्वयं इस शब्द का प्रयोग नहीं किया, परन्तु उसके सिद्धान्त को 'पैन्थि-इस्म' का नाम दिया गया। इस शब्द का अर्थ है—'वह सिद्धान्त जिसके अनुसार परमात्मा ही सब कुछ है।' पश्चिमी दर्शन में स्पीनोजा को सबसे बड़ा एकवादी समझा जाता है।

स्पीनोजा के बाद, जर्मनी के दार्शनिक हीगल का नाम एकवाद के साथ विशेष

रूप से सम्बद्ध है। हीगल एक पक्ष में, स्पीनोजा की अपेक्षा, स्टोइक सम्प्रदाय की ओर झुका; उसने चेतना और विस्तार को अन्तिम सत्ता में बराबर का स्थान नहीं दिया। मौलिक गुण के चुनने में, उसने स्टोइक विचार को अमान्य समझा, और चेतना को यह पद दिया।

स्पीनोजा ने अन्तिम सत्ता को 'सब्स्टैन्स' कहा था; हीगल ने इसे 'सब्जेक्ट' (ज्ञाता) के रूप में देखा। हीगल का 'एब्सोल्यूट' मन है।

## २. हीगल का सिद्धान्त

हीगल के सिद्धान्त को समझना कठिन है। जिस भाषा में उसने इसे प्रकट किया, उसने इसे और भी कठिन बना दिया है। कहते हैं, स्वयं हीगल ने मृत्यु से कुछ समय पहिले कहा कि उसके एक शिष्य ने ही उसे समझा और उसने भी गलत समझा। ऐसे सिद्धान्त के सम्बन्ध में हम यह आशा कर ही सकते हैं कि उसके अनुयायियों ने इसे भिन्न अर्थों में समझा। प्रमुख कठिनाई यह है कि निरपेक्ष या एब्सोल्यूट मन में मनुष्यों का स्थान क्या है?

मेरा अनुभव अनेक चेतना-अवस्थाओं का समूह है। आत्मा की बाबत प्रमुख विवाद यह रहा है कि यह उन अवस्थाओं का आश्रय, उनसे अलग तत्व है, या उनके समूह का नाम ही है। लाक और बर्कले इसे द्रव्य समझते थे; ह्यूम इसे प्रकटनों की लड़ी समझता था। एब्सोल्यूट में जीवात्माओं की स्थिति वही है, जो एक जीवात्मा के सम्बन्ध में उसकी अवस्थाओं की है। यहां भी वही प्रश्न उठता है, जिसने अनुभव-वादियों को दो दलों में बांट दिया था। इंग्लैण्ड में, टामस हिल ग्रीन, केअर्ड बन्धुओं और कुछ अन्य विचारकों ने कहा कि हीगल के सिद्धान्त में एब्सोल्यूट अगणित सीमित आत्माओं से अलग, और उनका आश्रय, एक सत्ता है। इस विचार के विपरीत, डाक्टर मैक्टेगार्ट का मत है कि एब्सोल्यूट जीवात्माओं का समूह ही है।

मैक्टेगार्ट का विचार जीवात्माओं की सत्ता को सुरक्षित कर देता है, और उन्हें ही सारी आत्मिक सत्ता बताता है। इस समग्र सत्ता में प्रत्येक अंश आवश्यक है, और कोई अंश किसी दूसरे अंश का स्थान नहीं ले सकता। प्रत्येक आत्मा अनादि और अमर है। मैक्टेगार्ट की व्याख्या हमें एकवाद के स्थान में आत्मिक अनेकवाद देती है। यह अनेकवाद लाइबनिज के अनेकवाद से भिन्न है। लाइबनिज के चिद्-बिन्दु एक दूसरे के सम्पर्क में नहीं आते; मैक्टेगार्ट की आत्माओं में यह अयोग्यता नहीं।

हीगल के अनुयायी बहुधा उसकी शिक्षा को उसकी पहली व्याख्या में स्वीकार

करते हैं। इसके अनुसार एब्सोल्यूट की सत्ता ही अकेली सत्ता है; हम सब प्रकटन मात्र हैं।

इस स्थिति में, जीवात्मा की बाबत तीन प्रश्न उठते हैं :—

(१) व्यक्ति का अस्तित्व वास्तविक है, या आभास ही है?

समुद्र में तरंगें उठती हैं : व्यक्त होती हैं, और क्षणों में अदृष्ट हो जाती हैं। वे समुद्र से जुदा कुछ हैं ही नहीं : जल की ऊपर-नीचे की अवस्थाएं हैं, जिन्हें हम भ्रम में वास्तविक समझ लेते हैं। क्या हमारी स्थिति भी इन तरंगों की सी है?

(२) हमें प्रतीत होता है कि हम कुछ कर सकते हैं, और करते भी रहते हैं। हमारी क्रिया तथ्य है, या भ्रम ही है?

(३) जब हम अपनी क्रिया को देखते हैं, तो इसमें शुभ-अशुभ का भेद करते हैं। यह भेद भद्र और अभद्र के भेद का एक रूप है। मिथ्या ज्ञान, कुरूपता, दुख, द्वेष आदि अभद्र के अन्य रूप हैं। क्या ये बुराइयां विश्व में विद्यमान हैं? यदि हैं, तो ये ऐसे विश्व में, जो पूर्णता का प्रकाश है, कैसे आ घुसीं?

### १. मनुष्य का स्वतंत्र व्यक्तित्व

हमें देखना है कि एकवाद में इन प्रश्नों का सन्तोषजनक उत्तर मिलता है या नहीं।

'पैन्थिइस्म' या ब्रह्मसर्ववाद में मनुष्य के स्वतन्त्र अस्तित्व के लिए कोई स्थान नहीं; यह केवल प्रकटन है। ईश्वरवाद सारी सत्ता को ईश्वर में ही नहीं देखता। यह ईश्वर के अतिरिक्त प्राकृत जगत और जीवात्माओं के अस्तित्व को भी मानता है। कुछ लोग कहते हैं कि यदि ईश्वर के अतिरिक्त अन्य सत्ता भी है, तो ईश्वर अनन्त नहीं रहता, सान्त हो जाता है। यह ठीक है, परन्तु यह परिणाम तो ईश्वर के प्रत्यय में ही निहित है। ईश्वर का ऐश्वर्य किसी ऐसी सत्ता की अपेक्षा से ही हो सकता है, जिसमें उतना ऐश्वर्य विद्यमान न हो।

ईश्वर स्वयं है। स्वयं के लिए अन्य स्वयों का अस्तित्व अनिवार्य है। 'मैं' केवल 'तू' और 'वह' के मुकाबिल ही सार्थक पद बन सकता है।

जब हम किसी पदार्थ के वस्तुगत अस्तित्व की बाबत कहते हैं, तो हमारे मन में दो ख्याल होते हैं :—

(१) उस पदार्थ का अस्तित्व हमारे जानने न जानने पर निर्भर नहीं। मेरे कमरे में कुछ पुस्तकें पड़ी हैं। मैं दिन के समय इन्हें देखता हूं। जब कहीं बाहर जाता हूं, या रात्रि के समय सो जाता हूं, तो मुझे उनका प्रत्यक्ष नहीं होता। परन्तु मैं ख्याल

करता हूं कि पुस्तकें उस समय भी विद्यमान थीं। सम्भव है मेरा विचार ठीक न हो, परन्तु जब मैं उन्हें वस्तुगत कहता हूं, तो मेरा विश्वास यही होता है।

(२) वह पदार्थ अन्य पदार्थों पर कुछ प्रभाव डालता है। जिस पदार्थ का होना न होना अन्य पदार्थों के लिए कोई भेद नहीं करता, उसके अस्तित्व और शून्य में कोई अन्तर नहीं। मैं अपनी दवात को मेज के एक कोने से उठा कर दूसरे कोने पर रखता हूं। दवात के इस स्थान-परिवर्तन से पृथिवी का आकर्षण-केन्द्र अपनी जगह से हिल गया है। साधारण मनुष्य को दवात निष्क्रिय प्रतीत होती है, परन्तु यह सारी पृथिवी और सारे विश्व, की स्थिति को निश्चित करने में भाग लेती है। यही हाल जीवात्माओं का है। मैं यह तो कल्पना ही नहीं कर सकता कि कोई पदार्थ परमात्मा के ज्ञान में न हो; परन्तु, जहां तक अलग आत्माओं का सम्बन्ध है मेरे अस्तित्व पर इस बात का कोई असर नहीं पड़ता कि अन्य पुरुषों को मेरी बाबत पता है या नहीं। जीवों के अस्तित्व के सम्बन्ध में, इस चिह्न से भी अधिक महत्व उनकी क्रिया का है। अब इसकी ओर देखें।

## २. स्वाधीनता

ब्रह्म-सर्ववाद में मनुष्यों की स्वाधीनता के लिए कोई स्थान नहीं। जो कुछ हो रहा है, ब्रह्म की माया है। और स्वयं ब्रह्म भी जो कुछ करता है, वह उससे भिन्न कुछ नहीं कर सकता। स्पीनोजा ने स्वाधीनता को महत्व दिया है, परन्तु वह स्वाधीनता को इसके साधारण अर्थों में नहीं लेता। उसके अनुसार, 'नियति की स्वीकृति ही स्वाधीनता है।' जिस पुरुष ने सत्ता के मर्म को समझ लिया है, वह उन वस्तुओं के पीछे, जो उसकी पहुंच के बाहर हैं, भागता नहीं; और जो कुछ अटल है, उससे विचलित नहीं होता। हीगल के मत में भी सारा मानव-इतिहास निरपेक्ष का प्रकाशन है, जिसका क्रम आरम्भ से ही नियत है। हीगल के एक अनुयायी ने कहा है कि निरपेक्ष का इतिहास तो है, परन्तु किसी अंश का, जो निरपेक्ष के अन्तर्गत आता है, इतिहास नहीं। मनुष्य का इतिहास तो बनता ही उसके स्वाधीन कर्मों से है। 'जीवन अपने आपको निरन्तर नूतन बनाते रहने का नाम है।'

ईश्वरवाद में मनुष्य की स्वाधीनता के लिए स्थान है। यह स्वाधीनता सीमाओं में बन्द है, परन्तु उन सीमाओं में चुनाव की सम्भावना है। मुझे प्राकृत आकर्षण पृथिवी पर स्थित रखता है, परन्तु मैं पृथिवी पर इधर-उधर आ-जा सकता हूं। चिन्तन भी अनियमित नहीं होता, परन्तु नियमानुकूल चिन्तन का क्षेत्र कितना विशाल है!

ईश्वर कर्मों का अध्यक्ष है। कर्म करने में हमारा अधिकार है; कर्म-फल के लेने

न लेने में हमारा अधिकार नहीं। जब कोई मनुष्य नदी में कूदना चाहता है, तो ईश्वर उसे रोकता नहीं; परन्तु यदि जल गहरा है, और वह तैरना नहीं जानता, तो उसका डूबना न डूबना उसकी मर्जी पर निर्भर नहीं होता।

## ३. बुराई या अभद्र

अन्य मतों की तरह, ईश्वरवाद के लिए भी सबसे जटिल प्रश्न बुराई का अस्तित्व है।

जान स्टूअर्ट मिल ने कठिनाई को इस तरह प्रस्तुत किया है :—

'बुराई का अस्तित्व विद्यमान है। यह क्यों यहां विद्यमान है? यदि परमात्मा बुराई को रोकने में समर्थ है, और इसे रोकता नहीं, तो वह निर्दोष नहीं; यदि रोकना चाहता है, और रोक नहीं सकता, तो शक्तिमान नहीं। वह या तो पूर्ण रूप में नेक नहीं, या शक्तिमान नहीं।'

अभद्र की बाबत कुछ विचार करें।

इस सम्बन्ध में हम ये प्रश्न पूछ सकते हैं :—

(१) अभद्र क्या है?

(२) अभद्र का अस्तित्व वास्तविक है, या कल्पना-मात्र ही है?

(३) अभद्र सृष्टि में विद्यमान कैसे हो गया?

(४) अभद्र अर्थहीन कलंक ही है, या इसका कुछ प्रयोजन भी है?

### १. अभद्र क्या है?

अभद्र और भद्र दोनों सापेक्ष शब्द हैं। अभद्र को दो अर्थों में लिया जा सकता है—भद्र का अभाव, और भद्र-विरोधक। भद्र में प्राकृत भद्र और मानवी भद्र का भेद किया जाता है। प्राकृत भद्र में वह सब वस्तुएं सम्मिलित हैं, जो जीवन को कायम रखने और इसे सुखी बनाने के लिए सहायक होती हैं। अन्न, वस्तु, मकान आदि ऐसी वस्तुएं हैं। मानवी भद्र में वृत्त या श्रेष्ठ आचार को विशेष महत्व दिया जाता है। अरस्तू बौद्धिक और नैतिक दो प्रकार के वृत्तों का वर्णन करता है। अफलातूं ने भी प्रमुख वृत्तों की सूची तैयार करने में इस भेद को अपने ध्यान में रखा था। बुद्धिमत्ता बौद्धिक वृत्त है; साहस, संयम और न्याय नैतिक वृत्त हैं।

आजकल आम ख्याल यह है कि सत्य सौन्दर्य और कर्त्तव्य-पराणयता भद्र के प्रमुख रूप हैं। कुछ लोग प्रेम को भी इनके साथ शामिल कर लेते हैं। अभद्र को भद्र का विरोधक समझें, तो यह असत्य, कुरूपता, पाप और द्वेष के रूप में प्रकट होता है।

### २. अभद्र का अस्तित्व वास्तविक है या नहीं ?

इस सम्बन्ध में दार्शनिकों में बहुत मतभेद रहा है। साधारण मनुष्य का तो यह पूछने का प्रश्न ही प्रतीत नहीं होता।

ब्रह्मसर्ववाद के लिए अभद्र का कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं। भद्रवाद का सब से प्रसिद्ध समर्थक लाइबनिज है। उसके विचार में, 'विद्यमान विश्व सम्भव विश्वों में सर्वोत्तम विश्व है।' विश्व में कोई त्रुटि नहीं; जो कुछ होता है, उसके लिए पर्याप्त हेतु है। फ्रांस के साहित्यिक वाल्टेयर ने इस मन्तव्य को अपनी पुस्तक 'कैन्डाइड' में हंसी का विषय बनाया है। मनुष्यों के व्यवहार में धोखा, फरेब, चोरी, निर्दयता, हत्या ही दिखायी देते हैं, परन्तु कैन्डाइड का मत यही है कि हमारी दुनिया सभी सम्भव दुनियाओं में उत्तम है। भूकम्प आता है, तो भी अच्छा है, क्योंकि उसने उसी स्थान पर ज्वालामुखी का फटना रोक दिया है।

रेखा की दूसरी ओर अभद्रवाद है, जिसे संसार में कोई अच्छाई दिखाई नहीं देती। नवीन काल में, जर्मनी का दार्शनिक शापनहावर प्रसिद्ध अभद्रवादी है। उसके ख्याल में, हम सब जलती भट्ठी में हैं; भेद इतना ही है कि बहुत से मध्य भाग में हैं, कोई-कोई किनारे पर पड़ा है।

साधारण मनुष्य लाइबनिज के भद्रवाद और शापनहावर के अभद्रवाद दोनों को अमान्य समझता है। संसार में भद्र और अभद्र दोनों विद्यमान हैं। हमारे लिए यह भी सम्भव है कि अपने मत से अभद्र में कुछ कमी, और भद्र में कुछ वृद्धि, कर सकें। इस धारणा को हम आशावाद कह सकते हैं। मनोवैज्ञानिक विलियम जेम्स ने इस मत का समर्थन किया है।

### ३. अभद्र विद्यमान कैसे हो गया ?

बुराई अव्यवस्था के रूप में प्रकट होती है। ईश्वर के शासन में व्यवस्था ही होनी चाहिए।

अफलातूं ने इस विषय पर लिखा है, यद्यपि यह कहना कठिन है कि इस कथन में दार्शनिक अफलातूं या कवि अफलातूं बोल रहा है। वह कहता है कि ईश्वर की व्यवस्था तीन रूपों में व्यक्त होती है। विशुद्ध रूप में यह द्युलोक के शासन में दिखाई देती है। इसके निचले स्तर पर यह जीवन और विकार में प्रकट होती है। पृथ्वी पर मनुष्यों के कामों की देखभाल के लिए कुछ देव नियत किये जाते हैं। इस कथन का अभिप्राय यह है कि जड़ प्रकृति में नियम की पूर्ण पालना होती है; वनस्पति की दुनिया में कुछ

गड़बड़ दिखाई देती है; मनुष्यों के जीवन में जो अव्यवस्था है, उसकी बाबत हम जानते ही हैं। मध्यकाल के दार्शनिक सन्त टामस एक्विनास ने भी 'ईश्वरीय शासन' पर लिखते हुए, अव्यवस्था के सम्बन्ध में दो प्रश्न उठाये हैं :—

(१) क्या संसार में अव्यवस्था विद्यमान है?

(२) क्या व्यवस्था को भंग किया जा सकता है?

पहला प्रश्न अचेतन जगत की बाबत है; दूसरा चेतन प्राणियों की क्रिया की बाबत है। एक्विनास इन प्रश्नों का उत्तर 'हां' में देता है। अव्यवस्था दो रूपों में व्यक्त होती है : एक रूप में, कोई कार्य बिना कारण के होने लगता है; दूसरे रूप में कारण विद्यमान होता है, परन्तु वह कुछ कर नहीं पाता। पहली अवस्था में हम कार्य को आकस्मिक घटना कहते हैं; दूसरी अवस्था में इसे अनियत कर्म कहते हैं। एक्विनास कहता है कि इन दोनों हालतों में, हम संकुचित दृष्टिकोण से देखते हैं, और इसलिए हमें प्रतीत होता है कि कारण-कार्य का नियम स्थगित हुआ है। यदि हम व्यापक दृष्टिकोण से देखें, तो हमें पता लगेगा कि जो कारण हमारे ध्यान में था, वह तो काम नहीं करता, परन्तु कोई और कारण काम कर रहा है। संकुचित दृष्टिकोण से देखने पर ही अव्यवस्था दिखाई देती है।

नैतिक बुराई को भी हम संकुचित और व्यापक दृष्टिकोण से देख सकते हैं। राज्य का काम नियम बनाना और उन नियमों को लागू करना है। इन्हें लागू करने के लिए, कुछ कर्मचारी नियुक्त किये जाते हैं। एक्विनास फरिश्तों या देवदूतों के अस्तित्व में विश्वास करता था; उसके समय में सारे ईसाई ऐसा विश्वास करते थे। वह कहता है कि नियम का बनाना तो परमात्मा ने अपने हाथ में रखा है; इसमें कोई त्रुटि हो नहीं सकती। राजा अपनी सुविधा के लिए मन्त्रि-मंडल नियुक्त करता है, जिनसे वह अपने शासन में काम लेता है। इसी में उसका गौरव भी है। ईश्वर भी ऐसा ही करता है। देवदूतों की देख-रेख में भी मनुष्य ईश्वरीय नियमों का उल्लंघन करते हैं। परन्तु यह उल्लंघन किसी विशेष भद्र के खिलाफ विद्रोह के रूप में ही हो सकता है; ईश्वर के व्यापक नियम को तोड़ नहीं सकता। वह व्यापक नियम यह है कि प्रत्येक कर्त्ता को अपने कर्मों का फल अवश्य मिलता है। जब कोई विद्यार्थी कालेज में किसी नियम को तोड़ता है, तो समझता है कि उसने व्यवस्था पर विजय प्राप्त कर ली है। जब उसे नण्ड मिलता है, तो व्यवस्था की विजय घोषित हो जाती है। कालेज में कभी दण्ड नहीं भी मिलता; परमात्मा के शासन में ऐसा होना सम्भव नहीं। एक कवि ने कहा है—'परमात्मा का वज्र मारने में जल्दी नहीं करता, परन्तु अनावश्यक देर भी नहीं करता।'

यहां पाप का स्रोत मनुष्य की स्वाधीनता है। पशु-पक्षी पुण्य और पाप दोनों के अयोग्य हैं। वे न इनमें भेद कर सकते हैं, न चुनाव कर सकते हैं। मनुष्य की स्थिति भिन्न है : उसे नैतिक बोध है, और वह स्वाधीन चुनाव भी कर सकता है। शतियों तक इस सम्बन्ध को एक भ्रममूलक रूप में समझा जाता रहा : पहले मनुष्य आदम और उसकी पत्नी ने ईश्वर के स्पष्ट आदेश का उल्लंघन किया; और उसके फलस्वरूप, हम सब पापी पैदा होते हैं। इस ख्याल में दो कठिनाइयां थीं :—

(१) यह मानना पड़ता था कि व्यक्ति को शरीर की तरह, माता पिता से आत्मा का अंश भी मिलता है।

(२) पुण्य और पाप एक मनुष्य से दूसरे को दिये जा सकते हैं।

टामस एक्विनास ने कहा कि जन्म के समय, परमात्मा प्रत्येक मनुष्य को एक नयी आत्मा भी देता है।

दूसरी कठिनाई की बाबत कांट ने कहा कि प्रत्येक का पुण्य और पाप उसकी अपनी सम्पत्ति है, और एक मनुष्य से दूसरे को दी नहीं जा सकती। यह ख्याल कि प्रथम पुरुष और स्त्री के गिरने से हम सब भी पापी पैदा होते हैं, ईश्वर के न्याय और व्यक्ति के उत्तरदायित्व दोनों के प्रतिकूल जाता है।

### ४. अभद्र का प्रयोजन

अभद्र के तीन अंश प्रधान हैं—दुख, अज्ञान, पतन।

पहले दुख को लें।

यह तो सत्य है कि हम स्वभावतः दुख से बचना चाहते हैं; बच न सकें, तो इससे छूटना या इसे कम करना चाहते हैं। परन्तु यह तो एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है; हम भद्र-अभद्र की बाबत चिन्तन कर रहे हैं। जान स्टुअर्ट मिल ने कहा था कि किसी वस्तु को वांछनीय सिद्ध करने के लिए हम यही कर सकते हैं कि उसे इच्छा का वास्तविक विषय सिद्ध करें, जिस वस्तु की इच्छा की जाती है, वह इच्छा करने के योग्य है। उसी मिल ने यह भी कहा कि 'तृप्त सूअर से अतृप्त सुकरात होना अच्छा है।'

जब कोई रोग हमें दुखित करता है, तो वह हमारा ध्यान शरीर की अवस्था की ओर खींचता है। जीवन कायम रखने के लिए खाने-पीने की आवश्यकता है; परन्तु हममें से कितने इस ज्ञान के कारण खाते-पीते हैं? भूख-प्यास हमें ऐसा करने पर मजबूर करती है।

सुख और दुख का चिन्तन करते हुए, हम मूल्यों की दुनिया में विचरते हैं। जैसा

डाक्टर मूर ने कहा है, किसी मिश्रित वस्तु या स्थिति का मूल्य उसके अंशों के मूल्यों का योग नहीं होता। जो माता तड़पते बच्चे के साथ तड़पने लगती है, वह संसार में दुख की मात्रा को बढ़ाती है। जो माता इस स्थिति में गाने-बजाने लगती है, वह आप खुश हो कर, दुख की मात्रा को कम करती है। ऐसी दो माताओं में हम किसके व्यवहार की प्रशंसा करते हैं? कुछ स्थितियों में दुख अभद्र नहीं रहता; इसकी अनुभूति शुभ भावना का अंश होती है।

अज्ञान अभद्र नहीं। अज्ञान से असन्तुष्ट होना, इसे कम करने की इच्छा करना ही मानसिक उन्नति का प्रमुख कारण है।

नैतिक पतन की बाबत यदि हम समझ लें कि यह हमारी स्वाधीनता का फल है, तो प्रश्न यही होता है कि क्या इस स्थिति में स्वाधीनता भावात्मक मूल्य की चीज है। पशु-पक्षी निर्दोष हैं; वे गिरने के अयोग्य हैं। हमारे लिए उठना और गिरना दोनों सम्भव हैं। हम यह नहीं कह सकते कि पशु हमारी स्थिति में आना चाहेंगे, या नहीं; परन्तु मनुष्यों में शायद ही कोई वर्तमान स्थिति के स्थान में पशु स्थिति में जाना चाहेग। साधारण पुरुष का विचार होता है—'यही खेल अच्छा है।'

## ५. ईश्वरवाद और अभद्र

हमने देखा है कि सर्वब्रह्मवाद के लिए नैतिक अभद्र की समस्या एक न खुलने वाली गुत्थी है। वास्तव में, अभद्र में नैतिक अभद्र ही कठिन समस्या है; दुख को तो हम पाप का फल भी समझ सकते हैं। पाप के सम्बन्ध में मौलिक प्रश्न यह है कि जीवात्मा ईश्वर की रचना है, या अनादि सत्ता है। जो लोग इसे ईश्वर की रचना बताते हैं, उन्हें ईश्वर की असीम शक्ति को सुरक्षित रखने की चिन्ता होती है। इसका फल यह होता है कि वे जीवात्मा को स्वाधीनता से वंचित कर देते हैं, और मनुष्य के सारे कामों के लिए ईश्वर को उत्तरदायी बनाते हैं। ऐसा करने में, वे कुछ न्याय विरुद्ध नहीं करते। ईरान के कवि हाफिज ने परमात्मा को सम्बोधित कर के कहा है :—

"तुमने मुझे नदी के मंझधार में फेंक दिया है, और फिर कहते हो—सावधान रहो, कहीं वस्त्र को भिगो न लेना।"

उमर खय्याम ने इस कठिनाई की ओर कई चौपाइयों में संकेत किया है। वह कहता है :—

'गतिशील उंगली लिखती है, और लिख कर आगे चल देती है। तुम्हारी सारी भक्ति और सारी बुद्धिमत्ता इसे लौट आने और आधी पंक्ति भी काट देने पर उद्यत नहीं कर सकती; न ही तुम्हारे अस्त्र इस लेख में एक शब्द को मिटा सकते हैं।'

'पृथिवी की प्रथम मिट्टी के साथ, उन्होंने अन्तिम मनुष्य की मिट्टी को गूंधा, और तब अन्तिम कृषि-फल का बीज बोया। हां, उत्पत्ति की पहली प्रातः ने वह सब कुछ लिख दिया, जो हिसाब की अन्तिम सायं को पढ़ना होगा।'

सब से बलिष्ट आपत्ति निम्न चौपाई में की गयी है :—

'ऐ खुदा ! तूने मनुष्य को अधम मिट्टी से उत्पन्न किया, और अदन बाटिका में सांप को भी रख दिया। उस सारे पाप के लिए, जिससे मनुष्य का चेहरा कलंकित है, क्षमा कर दे—और क्षमा प्राप्त भी कर ले !'

अन्तिम शब्द कितने भयावने हैं ! मनुष्य जो पाप भी करता है, ईश्वर की दी हुई प्रवृत्ति के कारण करता है। वास्तव में ईश्वर ही इस पाप के लिए उत्तरदायी है।

खय्याम परमात्मा से कहता है—'तू हमें बख्श दे; हम तुम्हें बख्श देते हैं।'

हाफिज और खय्याम दोनों के मन की गहराई में यह ख्याल था कि उत्पन्न हुई आत्मा के लिए, शुभ-अशुभ क्रिया का भेद कुछ अर्थ नहीं रखता।

यदि ईश्वर की तरह, जीवात्माओं को भी अनादि मान लें, तो ईश्वर की शक्ति तो सीमित हो जाती है, परन्तु मनुष्य का व्यक्तित्व और उसकी स्वाधीनता बच रहते हैं। इसके साथ ही, अभद्र का समाधान भी सुगम हो जाता है। हमें ईश्वर की निस्सीम शक्ति और मनुष्य की स्वाधीन सत्ता में चुनना होता है। ऐसा चुनाव करने में, कोई एक ओर झुकता है, कोई दूसरी ओर झुकता है।

# पर्यायवाची शब्द

Absolute निरपेक्ष
Abstraction पृथक्करण
Activity क्रिया
Aesthetics सौन्दर्य-विद्या
Agnosticism अज्ञेयवाद
Analysis विश्लेषण
Antithesis प्रति-धारणा
Appearance प्रकटन, विवर्त्त
Association संयोग
Atheism नास्तिकवाद
Atomism परमाणुवाद
Attribute गुण
Biology प्राण-विद्या
Category परतम जाति
Cause, Efficient निमित्त कारण
Cause, material उपादान कारण
Concept प्रत्यय
Canceptualism प्रत्ययवाद
Cosmos भूमण्डल
Cosm●logical निर्माणात्मक
Criticism आलोचन
Dualism द्वैतवाद
Duality द्वन्द्व
Emanation, theory of उद्घाटनवाद
Empiricism अनुभववाद
Energy शक्ति, एनर्जी
Epistemology ज्ञान-मीमान्सा
Extension विस्तार
Ethics नीति
Evil अभद्र, अशुभ
Evolution विकास
Evolution, Natural लौकिक विकास
Evolution, Transcendental लौकान्तरिक विकास
Evolution, Creative उत्पादक विकास
Experience अनुभव
Experiment निरीक्षण
Freedom स्वाधीनता
Good भद्र, शुभ
Harmony सामंजस्य
Harmony, Pre-established पूर्व स्थापित सामंजस्य
Hypothesis प्रतिज्ञा
Idea विचार, प्रत्यय
Idealism आत्मवाद, अध्यात्मवाद
Idealism, Subjective मानवी अध्यात्मवाद
Idealism, Objective वस्तुगत अध्यात्मवाद
Idealism, Absolute निरपेक्ष अध्यात्मवाद
Identity अनन्यता
Immanence अन्तरात्मा होना, व्यापना
Individuality व्यक्तित्व
Instinct नैसर्गिक उत्तेजन

Intuition आत्म-ज्योति
Logic न्यायदर्शन
Materialism प्रकृतिवाद
Mechanism, theory of यन्त्रवाद
Metaphysics तत्व-ज्ञान
Modality विधि
Monad चिद्-बिन्दु, तात्विक बिन्दु
Monism एकवाद
Nature भूमण्डल
Naturalism लोकवाद
Necessity नियत
Nominalism नामवाद
Notion प्रत्यय
Observation परीक्षण
Ontology तत्व मीमांसा
Optimism भद्रवाद, आशावाद
Pantheism ब्रह्मसर्ववाद, सर्वब्रह्मवाद
Particular विशेष
Passivity आक्रान्तता
Pessimism अभद्रवाद, निराशावाद
Phenomenon प्रकटन
Pluralism अनेकवाद
Positive भावात्मक
Proof हेतु
Proof, Ethical नैतिक हेतु
Proof, Ontological भावात्मक हेतु
Proof, Teleological प्रयोजनात्मक हेतु
Quality गुण
Quality, Primary प्रधान गुण
Quality, Secondary अप्रधान गुण
Quantity मात्रा, परिमाण
Rationalism विवेकवाद
Realism वस्तुवाद, यथार्थवाद
Reality सत्, विश्व-तत्व
Reason बुद्धि
Reason, Pure विशुद्ध बुद्धि
Reason, Practical व्यावहारिक बुद्धि
Scepticism सन्देहवाद
Self स्वयं
Sense-data इन्द्रिय-उपलब्ध
Space देश, अवकाश
Subject ज्ञाता, चेतन
Substance द्रव्य
Synthesis समन्वय
Teleology प्रयोजनवाद
Theism आस्तिकवाद
Thesis धारणा
Truth सत्य
Truth, Coberence theory of, अविरोधवाद
Truth, Correspondence theory यथार्थवाद
Truth, Pragmatic theory of व्यवहारवाद
Uniformity अनुरूपता
Unity एकता
Universal सामान्य
Will संकल्प